

UNIVERSAL
LIBRARY

OU_182312

UNIVERSAL
LIBRARY

OSMANIA UNIVERSITY LIBRARY

Call No. H/01/P186 Accession No. H/821

Author लुइस मिर्को-यन

Title मुसलमानों की व्यक्तित्व और सेवा

This book should be returned on or before the date last marked below.

जीवन परिचय

वर्ष अप्रयास सामने मूर्तिमान होने लगते हैं। राष्ट्र भाषा के इस पुजारी का गौरव स्थिर व उच्च है। अंग्रेजी को टी० एस० इलियट का गर्व है; फ्रांसीसी कविता को, आँद्रे, ब्रोटन, बेलरी, ल्यूअर्ड का; रूसी कविता को सुरकोव, तिखोगेव का; हिन्दी कविता को मैथिलीशरण गुप्त पर गर्व है।*

* इस जीवन परिचय में 'साधना' पत्रिका (१९४१) से सहायता ली गई है।

अध्याय २

आधुनिक हिन्दी कविता की पृष्ठ भूमि

श्री मैथिलीशरण गुप्त इस समय हिन्दी के सर्वोच्च कवियों में माने जाते हैं। उन्हें राष्ट्र कवि या प्रतिनिधि कवि भी आलोचक कहने लगे हैं। उनकी रचनाओं का यथार्थ महत्व समझने के लिए आधुनिक हिन्दी कविता की प्रारम्भिक स्थिति का तथा अन्य समकालीन रचनाओं का ज्ञान आवश्यक है।

महावीरप्रसाद द्विवेदी के सम्पादकत्व में प्रकाशित 'सरस्वती' पत्रिका में लगभग सन् १९०५ से गुप्तजी की कवितायें निकलने लगीं। तब से आज तक उनकी कलम रुकी नहीं है। इन पचास वर्षों में भारतवर्ष ने अनेक राजनैतिक, सामाजिक उथल-पुथल देखे। सन् १८५७ से विदेशी शासन के प्रति उनका विरोध किसी न किसी रूप में प्रकट होता रहा। उस क्रांति का महत्व इसलिए है कि हिन्दू मुसलमानों ने मिलकर अंग्रेजों का विरोध किया था। शासक वर्ग ने अनेक बिलों, कानूनों, आर्डिनेंसों द्वारा जनता को दबाने का प्रयत्न किया। सन् १८६७ का, 'प्रेस एण्ड रजिस्ट्रेशन एक्ट', सन् १९७६ का 'वर्नाक्यूलर प्रेस एक्ट' आदि राष्ट्रीय भावनाओं को प्रचारित होने से रोकते रहे।

लार्ड रिपन के समय कुछ प्रतिबन्ध शिथिल हुए तो अनेक समाचारपत्र प्रकाशित होने लगे—'हिन्दू पैट्रियट', 'बाइस आफ इंडिया', 'इन्दु प्रकाश', 'केसरी', 'मराठा', 'हिन्दू', 'हैराल्ड', 'ट्रिब्यून' आदि। समाज सुधार को ध्यान में रख कर अनेक संस्थाएँ निर्मित हुईं जो शासकों तक जनता की दयनीय स्थिति प्रगट करती थीं। प्रधान ह्यूम द्वारा स्थापित सन् १७८५ में Indian National Congress है। आरम्भ में इसके सदस्य अधिकारी होते रहे

आलोचना व निबन्ध

‘गुप्त जी की काव्य-कला और साकेत’

अध्याय १

जीवन परिचय

गुप्तजी के नाम व रचनाओं से तो मेरा परिचय कदा ६-७ में ही हो गया था, यम बार देखने का अवसर सन् १९५२ की गर्मियों में प्राप्त हुआ। साहित्यकार सदा प्रयाग द्वारा बाबू गुलाबरायजी को जगदीश साहू पुरस्कार दिया जाने वाला था। सभी भाषण के लिये उठे तो मेरी दृष्टि उनकी वेषभूषा पर गई—साधारण भारतीय पोशाक—धोती, कुरता और गांधी टोपी। अन्य लोगों से बात करते समय बड़ी स्थिति, सहृदयता व सरलता का बोध होता था। मेरी कल्पना ‘भारत भारती’, ‘पद्म-वध’ से होती हुई ‘साकेत’ तक पहुँच गई। ‘तो ये हैं राष्ट्र-कवि मैथिली-गुप्त’—मेरे भीतर किसी ने कहा—‘इन्हीं का हरिगीत=का छंद मुझे बचपन प्रिय था।’ तब मेरा बाल-मुलभ मन प्रश्न करता था ‘गुप्त’ जी बड़े हैं या ‘वध’ : समाधान तो आज भी नहीं हो पाया है।

गुप्तजी का जन्म स० १९४३ (सन् १८८६ ई०) सामबार, भावना, गुप्त-मंडला—चिरगांव जिला भोजपुरी। इनके पिता सेठ रामचरण भी ‘कनकलता’ से कविता किया करते थे, सीताराम के परम भक्त थे। गुप्तजी पर विशेष प्रभाव और बचपन में लिखे एक छंद की पढ़ कर आशीर्वाद दिया था—“तुम कला कर हमसे हजार गुनी अच्छी कविता करोगे।” गुप्तजी गहोई वैसा हैं

और पांच भाई हैं--श्री महारायदासजी, श्री रामकिशोर गुप्त, श्री मैथिलीश गुप्त, श्री लियारामशरण गुप्त और श्री चारुशीलाशरण गुप्त। गुप्तजी का पहला विवाह ६ वर्ष की अवस्था में हुआ। सन् १९०४ में दूसरा विवाह हुआ। १९१४ में तीसरा विवाह। बच्चे तो अनेक हुए पर जाते रहे।

चिरगाँव में आरंभिक शिक्षा के उपरान्त मेकडानल हाईस्कूल भ.पांसी में अंग्रेज पढ़ा। मन न लगने से घर में ही पढ़ाने की व्यवस्था की गई। पतंग उड़ाने का जोर-जोर से आल्हा पढ़ने का बड़ा शौक था। मुंशी अजमेरी से मित्रता हुई तो कहानी-कविता में रुचि लेने लगे। घर में संस्कृत अध्ययन से पद्य रचना का प्रवृत्ति हुई। दोहे-छप्पय छन्दों में विभिन्न विषयों पर कविता १५-१६ वर्ष की अवस्था से लिखने लगे। 'वैश्योपकारक' नाम से एक समाचार-पत्र उन दिन कलकत्ता से प्रकाशित होता था। गुप्तजी की कवितायें भी स्थान पाने लगीं। उस समय हिन्दी के आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी से परिचय हुआ। गुप्तजी ने 'हेमन्त कविता 'सरस्वती' में प्रकाशनार्थ भेजी। द्विवेदी जी ने यथेष्ट संशोधनों के उपरान्त इसे प्रकाशित किया और गुप्तजी को भी एक पत्र लिखा--“हमने जो संशोधन किए हैं उन पर विचार करो, आगे से जिस कविता को हम न छापें, उसे किस दूसरे पत्र में न छुपाओ।” फल यह हुआ कि द्विवेदी जी पथ-निर्देशन करते और गुप्तजी उन विषयों पर कविता लिखते। 'सरस्वती' द्वारा कवि के तुलने गान सँवर गये, उनमें निखार आता गया। वस्तुतः गुप्तजी को कवि बनाने में द्विवेदी का सबसे बड़ा हाथ रहा है। मैथ्यू आर्नल्ड ने लिखा है-- “The creation of a great modern poet, to be worth much, implies a great critical work behind it” अर्थात् युग कवि बनने के लिये ऊँचा आलोचन का पृष्ठाधार आवश्यक है। गुप्तजी के सम्बन्ध में यह कथन सटीक बैठता है।

रामचन्द्र शुक्ल ने गुप्तजी की पहली रचना 'रंग में भंग' मानी है। सन् १९०६ में प्रकाशित हुई। 'जयद्रथ बध' खंड काव्य से काव्य प्रतिभा चमक लगी; 'भारत भावद्वी' तो कवि की आशा के अनुकूल ही भारत के कोने-कोने में व्याप्त हो गई। तब से 'नहुष' तक लगभग ३४ रचनाओं में उनकी विभि

प्रवृत्तियाँ लादित होती हैं। 'साकेत' का आरम्भ तो 'डमिला' खण्ड काव्य हुआ, बाद में रामभक्ति में बदल कर वर्तमान रूप में प्रकाशित हुआ। मूल प्रेरणा कहीं से कैसे मिली—इस सम्बन्ध में एक बार उन्होंने कहा था—“कविता भी एक मादक चीज है। शुरू-शुरू में विनोद या कौतूहल की दृष्टि से कविता करने लगा। लेकिन उसने मुझे अपने अधीन कर लिया। हमारे पिताजी कुछ देवताओं को लक्ष्य करके कविता किया करते थे। मुझे भी उसके अनुसार स्तुति या गुणगान करने की इच्छा उत्पन्न हुई। वही इच्छा प्रेरणा बनी और उसकी परिणति आत्म निवेदन से आत्मसमर्पण में हो गई।” इतना तो है ही कि रामभक्ति और कवित्व प्रतिभा गुप्तजी को पिताजी से उत्तराधिकार के रूप में प्राप्त हुई हैं।

पुस्तक प्रकाशन की व्यवस्था गुप्तजी की अपनी रही है—साहित्यसदन चिरगाँव, भौँसी। यथेष्ट आय हुई है। 'ज्योत्स्न बंध' का ३६ वाँ संस्करण सं० २०११ वि० में प्रकाशित हुआ है। 'भारत भारती' का सं० २००६ का २४ वाँ संस्करण है। सिद्ध राज का १२ वाँ संस्करण है। 'साकेत', 'बशोबरा' कई बार मुद्रित हो चुके हैं। अनेक विश्व विद्यालयों के बी० ए०, एम० ए०, के पाठ्यक्रम में होने से इनकी माँग अभी बढ़ती जा रही है।

कविता लिखते समय गुप्तजी प्रायः फर्श पर गद्दी बिछाकर बैठते हैं। गुनगुना-र स्लेट पेंसिल का उपयोग करते हैं मुँशी अजमेरी के समय तक कविता उन्हें सुना कर वाद-विवाद के उपरान्त संशोधन भी कर लेते थे। 'मूढ' के समय तो बिस्कुल जाते हैं, कोई बाधा नहीं रहती। लिखने के दिनों में तो काम रहता था तो महीनों, वर्षों बीत जाते हैं। विशेषता यह है कि इधर वे अपनी पुस्तक को अन्तिम कहते हैं और साल दो साल में फिर नवीनता प्रकाशित हो जाती है। उनका कहना है “मेरे अनुज सियाराम शर्मा के अवकाश नहीं लेने देना चाहते। वे छोटे हैं इसलिए मुझ पर उनका बड़ा प्रभाव है। तथापि, यदि अब मैं कुछ लिख सका तो वह उन्हीं की केदार होगी।” साप्ताहिक पत्र-पत्रिकाओं के विशेषांकों में या रेडियो द्वारा उनकी कविता तक पहुँचती रहती हैं।

गुप्तजी देशभक्त भी हैं। उनके लेखों में गांधीजी का सर्वाधिक प्रभाव है जो स्वाभाविक है। बीसवीं शताब्दी के अग्रज हिन्दी लेखक उस प्रभाव से बच नहीं सका। सत्य, अहिंसा, आत्मत्याग का अर्थ स्थान स्थान पर मिलता है। गुप्तजी की विशेषता यह है कि उनका देश-प्रेम और रामभक्ति का अपूर्व मेल हो गया है। इसलिए अंग्रेजों के विरुद्ध उनके काव्य काजो बनना पड़ा। सन् १९३६ में गांधीजी ने उन्हें काव्यमान प्रथम भेंट किया था। 'साकेत' भी मंगलाप्रसाद पारितोषिक से पुरस्कृत किया जा चुका है। एक लेख पर देशभक्ति का उल्लेख करते हुए उन्होंने लिखा भी है—“नवीन भाषा के साथ ही पद्य रचना के लिए भारतवर्ष ऐसा महान् विषय भी मुझे आरम्भ से ही प्राप्त हो गया था, वह भी एक संयोग से। व्यापार में लम्बा घाटा होने पर भी बहुत सी चल और अचल सम्पत्ति भी चल दी थी। मेरे बाल-हृदय ने जेठ घर देखा वही बाहर भी था। मेरे घर के वैभव को व्यापार ले बैठा था और बाहर सब कुछ विदेशी व्यापारी लिए बैठे थे। मैं अपना रोना रोकर देश के लिए रोने वाला बन बैठा।” इतनी सरलता से आज का तर्क बुद्धिजीवी तर्क कवि शायद ही अपनी सीमाओं को स्वीकार कर सके। यही गुप्तजी की विशाल हृदयता, निश्छलता व भीतर बाहर की एकता है। कवि रूप में वे जितने महान हैं, उतने ही व्यक्ति रूप में भी।

आजकल गुप्तजी प्रायः दिल्ली रहते हैं। राष्ट्रीय भारतीय सरकार ने एम० पी० चुना है। एक प्रकार से राष्ट्र भाषा हिन्दी के कर्णधार रूप में वहाँ विद्यमान हैं। स्वभाव, वेशभूषा वही है—सरल और विनीत, बाह्याचारों से नये और स्पष्टवक्ता। निषेध भी करेंगे तो मृदुल शब्दों में, ताकि दूसरे के मन ठेस न लगे। मुझे उनकी दो पंक्तियाँ प्रायः स्मरण रहती हैं—

‘सरल सरसता है वाक्य विन्यास ही में
गरल बरसता है वाक्य विन्यास ही में !’

इस समय ६६ वर्ष के हैं किन्तु जीवन की तपस्या, साधना अतृप्य है। प्रफुल्ल मुखमण्डल आशा उत्साह सूचित करता है। नेत्रों के तीव्र प्रकाश से अब भी युवकों जैसी स्फूर्ति झलकती है। उनके दर्शन से हिन्दी कविता के पिछले पचास

लगभग सन् १९०० से इसकी नीति बदल गई, अंग्रेजों का विरोध करने लगी। भारतीय नेताओं के हाथ में संचालन आने से इसका उद्देश्य 'होम-रूल' हो गया।

१९००ई० के उपरान्त राजनैतिक क्षेत्रके नेता रहे—सुरेन्द्रनाथ बैनरजी, महादेव रानाडे, तिलक, लाजपतराय, विपिनचन्द्र पाल, ऐनी बेसेंट, गोखले, अरविन्द घोष, मोतीलाल नेहरू, गांधी आदि। गांधी के व्यक्तित्व के कारण इस पचास वर्ष के युग को 'गांधी युग' भी कहा जा सकता है। इन नेताओं में मुख्यतः दो विचार-धाराओं के लोग थे। शान्तिवादी और उग्रपंथी। उदार नीति वाले लोक-तंत्र सुधारवादी प्रवृत्ति पर विश्वास करते थे। दादाभाई नौरोजी, फिरोजशाह मेहता आदि तो अंग्रेजी राज्य को भारतीय उन्नति के लिये देन जैसी मानते थे। उग्रपंथी नेताओं तिलक आदि विदेशी सभी वस्तुओं का बहिष्कार करने पर तुले हुए थे। भारत के प्राचीन आदर्शों को सामने ला कर राष्ट्रीयता का संदेश देते थे। धारा सभा बहिष्कार, स्कूल कालेज बहिष्कार, पिकेटिंग आदि द्वारा भारतीय जनता में क्रांति का स्वर उठता गया।

दक्षिण अफ्रीका से लौट कर गांधीजी भी इस आन्दोलन में सम्मिलित हो गए। सन् १९१४-१५ को तो भारतीय इतिहास में एक नवीन युग की आरम्भ तिथि मानना चाहिए। १९१६ में गांधी ने रौलेट बिल का विरोध आरम्भ किया सत्याग्रह का यह अहिंसात्मक प्रयोग था। तब से उत्तरोत्तर में भारतीय राजनीति में उनका प्रभाव बढ़ता गया। १९३५ ई० में कांग्रेस ने विधान परिषद् के चुनाव लड़े, छः प्रान्तों में मंत्रिमण्डल भी बना। द्वितीय महायुद्ध के उपरान्त उसने अंग्रेजों का फिर विरोध किया। स्त्रियों भी स्वतन्त्रता संग्राम में भाग लेने लगी। कभी नेता सुधारों का स्वागत करते थे, कभी विरोध। अंततः भारत को १९४७ में स्वतन्त्रता मिली। मैथिलीशरण गुप्त की रचनाओं की यह राजनैतिक पृष्ठ भूमि है। गांधी के व्यक्तित्व का तो उन पर प्रभाव है ही, रचनाओं में गांधीवादी विचारधारा का स्थान स्थान पर प्रकाशन है।

सामाजिक क्षेत्र में भी यह समय संघर्ष, कलह और द्रोह का युग है। भारतीय जनता का हृदय उस विशाल महासागर की तरह है जो धरातल पर तो शांत, गम्भीर दिखाई देता है लेकिन भीतर आत्माचक्रों, लहरों का विक्षोभ घुमड़ात

है। विदेशी शासन को भारतीयों ने सिर झुका कर कभी स्वीकार नहीं किया। अंग्रेजी सत्ता के प्रभुत्व में वे परमुत्पापेक्षी होते गए। उनकी धन सम्पत्ति, रीति नीति, शिक्षा दीक्षा पर विदेशी अंकुर था, जिधर शासक वर्ग चाहता उन्हें घुमा देता। वे अपने प्राचीन आदर्श, महत्व भूलते गए। अधिक लोग विदेशियों की रहन-सहन अपनाकर जीविका निर्वाह करने लगे। अंग्रेजों ने भी भारत की मर्यादाओं पर भ्रमराओं का विरोध नहीं किया था, ये उनकी शिक्षा दीक्षा के अनुयायी होते गए। अंग्रेजी शिक्षा के प्रभाव से अनेक सुधार स्वतः होने लगे। भारतीय पश्चिमी विचार धारा से अवगत हुए, अपने समाज की कुरीतियाँ स्पष्ट हुईं। अन्धविश्वास, अस्मृश्यता, विधवा विवाह, आदि प्रश्नों पर विचारकों का ध्यान आकृष्ट हुआ। निम्न वर्ग के अधिकांश लोग ईर्माई होने लगे थे। आर्यसमाज जैसी संस्थाएँ बनने लगीं जिनका उद्देश्य समाज सुधार था। यहाँ के उपदेशक, सुधारक, कवि लेखक भी इन प्रवृत्तियों से परिचालित होने लगे। रुढ़िवादिता का खडन होने लगा।

महत्वपूर्ण परिवर्तन हुआ नारी की स्थिति में। मुगलकाल में उसका रहा सदा व्यक्तित्व भी समाप्त हो चुका था। दरबार की नायिका इतनी कुशकाय होने लगी थी कि चश्मा पहनने में भी न दिखाई दे! गुलाब के फूल से जिनके पैर साफ किए जायें — केवल इसलिए कि लाले न पड़ें — राजपूतनी नारी का आदर्श ही स्वप्न हो गया था। नई शिक्षा से दृष्टिकोण बदला। उनका समाज में स्थान बढ़ने लगा। लेखक कवियों ने सीता, कौशल्या, अनुसूया आदि प्राचीन नायिका का उल्लेख कर नव जागरण का सन्देश दिया। भारतेन्दु, स्वयं स्त्री-शिक्षा के पक्षपाती थे। उनके लिए 'बाल बोधिनी' पत्रिका निकाली थी। भगवानदीन ने वीरगनाओं के गीत गाए। केवल गुप्तजी की कविताओं में ही नहीं वर्तमान काल की सभी श्रेष्ठ रचनाओं में नारी का उदात्त रूप चित्रित हुआ है।

शिक्षा प्रसार से समाजवादी, भौतिकवादी, विचारधाराएँ फैलने लगीं। पश्चिमी समाज की विशेषताओं को भारतीय समाज में लाने का प्रयत्न होने लगा। वैज्ञानिक विकास ने अनेक मान्यताएँ बदल दी। भारतीय लोग पारस्परिक रागद्वेष से ऊपर

हेलमेल, सहानुभूति को प्रधानता देकर राष्ट्रीय, अन्तर्राष्ट्रीय रूप में सोचने लगे। लक्ष्मण ने यह सुधारवादी परम्परा का आरम्भ था।

धार्मिक क्षेत्र में भी मान्यताएँ बदलीं। भारत आर्यों के देवता, अनाथों की रीतियाँ, तुकों, मुगलों की प्रथाएँ- सभी को आत्मसात करता रहा था। अँग्रेजी पादरियों ने भी प्रच्छन्न रूप से ईसाई धर्म प्रचार किया। वे सहानुभूति, प्रेम व दया के आधार पर मत प्रचार करते थे। शासन से सहायता थी ही। बाइबिल का देशी भाषाओं में अनुवाद कर बँटा जाता था। सीरामपुर मिशनरियों का एक प्रधान केन्द्र था। यहाँ के छापेखाने से अनेक ईसाई धर्म सम्बन्धी पुस्तकें छप कर बँटती थीं। राजा रामनोहनराय ने 'ब्रह्म समाज' की स्थापना की जिसमें हिन्दू, इस्लाम, ईसाई-तीनों धर्मों की प्रधान बातें स्वीकार की गईं। लक्ष्य रहा एकेश्वरवाद जिसे कोई भी मान सकता था। मूर्तिपूजा आदि अन्य अनेक कुरीतियों का बहिष्कार किया गया। उन्होंने 'वेदान्तसूत्र', पौचों उपनिषद, 'अनुष्ठान' आदि अनेक पुस्तकें प्रकाशित कराईं। ईसाई धर्म पर भी लिखा। मद्रास में 'वेदसमाज', बम्बई में 'प्रार्थना समाज' ने उनकी धार्मिक मान्यताएँ जनता तक पहुँचाईं। उत्तर में स्वामी दयानन्द, पूर्व में रामकृष्ण परमहंस तथा विवेकानन्द ने धर्म सम्बन्धी नवीन विचार प्रस्तुत किए। 'आर्य समाज' का उद्देश्य वैदिक धर्म की स्थापना कर हिन्दुत्व, संगठन, समानता आदि गुणों का प्रचार करना था। शुद्धि प्रथा से अन्य जातियों को भी हिन्दू बनने में सहायता मिली वेदों का प्रचार किया। शास्त्रार्थ द्वारा मन्दिरों, मसजिदों, मठों के दुराचार जनता के सामने रखे। अन्य धर्मों से हिंदू धर्म की श्रेष्ठता सिद्ध कर ऊँच-नीच, छुआछूत की भावना से ऊपर उठाने का जनोपयोगी कार्य किया। 'सत्यार्थ प्रकाश' प्रसिद्ध ग्रन्थ है। आर्य समाज की मुख्य देन यह है कि भारतीयों के मन में अपने देश जाति के प्रति गौरव भावना उत्पन्न हुई। अतीत प्रेम उनमें जाग उठा।

विवेकानन्द ने भारत व अमेरिका में वेदांत की श्रेष्ठता प्रतिपादित की। शिकागो में सन १८९४ ई० में होने वाले सर्वधर्म सम्मेलन में उन्होंने भारतीयों को पुनर्जागरण का संदेश दिया था। आध्यात्मिकता को शक्ति बतलाया था।

थियासाफीकिल सोसाइटी के व्यापक सिद्धान्तों ने भी धार्मिक पुनर्जागरण में सहायता दी ।

विचार स्वातंत्र्य, नव जागरण से भारतीय अपने धर्मों को आलोचक की दृष्टि से देखने लगे । कट्टरता, रूढ़िवादिता हटने लगी । द्विवेदी युग में तो राम कृष्ण को भी मानव की दृष्टि से देखा जाने लगा । अलौकिक, पारलौकिक तथ्यों को तर्क सगत बनाने का प्रयत्न होने लगा । हरिश्चौध, गुप्त की विचार धारा पर इसका बहुत प्रभाव है । उधर बंगाल में धार्मिक सभ्यता के अन्तर्गत जो रहस्य भावना बढ़ रही थी, उसने साहित्य को भी प्रभावित किया । प्रत्यक्ष सत्ता के स्थान पर परोक्ष सत्ता को अधिक महत्व दिया जाने लगा ।

पंजाब में सिक्ख धर्म फैला । मुसलमानों में भी धार्मिक जाग्रति हुई । ईसाइयों ने इन्हें हिंदुओं के विरोध में रखने का निरन्तर प्रयत्न किया । २० वीं सदी के बाद ही ये समझे कि मूल विरोध आपस में नहीं बल्कि विदेशी शक्ति से है ।

देश की इन स्थितियों का प्रभाव गुप्त जी की रचनाओं पर है । इन्हीं प्रवृत्तियों के अनुसार तत्कालीन साहित्य भी था । सबसे महत्वपूर्ण बात हुई गद्य का विकास । भारतेन्दु ने हिंदी गद्य की भाषा का स्वरूप स्पष्ट कर दिया । विषय अधिकतर लोकहित, समाज सुधार, मानुषाभा का उद्धार आदि थे । जैसा शुक्ल जी ने कहा है—“इस नए रंग में सबसे ऊँचा स्वर देश भवित की दाणी का था ।” कविता में हास्य, विनोद के नए आलवन भी मिले । १८५७ की क्रांति के सम्बन्ध में भी कुछ गीत लिखे गए । लेखकों ने आरम्भ में अंग्रेजी राज्य की प्रशंसा तो की लेकिन भारत की जातीय एकता, महत्ता उनके सामने अवश्य थी—“अंगरेज राज सुख साज सजे सब भारी—पै धन विदेस चलि जात यहै अति ख्यारी ।”

अंग्रेजों के आगमन तक सभी रचनाएँ पद्यात्मक थीं । भाषा माध्यम ब्रज-भाषा, स्थानीय बोलियाँ या उर्दू थी । अंग्रेजी का प्रचार हो चला था । सेंट विलियम कालेज की स्थापना के बाद हिन्दी गद्य का विकास बढ़ी शीघ्रता से हुआ । इंशाअल्ला, सदल मिश्र, लल्लूलाल, सदासुखलाल प्रभृति सज्जनों ने इस निर्माण में अभूतपूर्व योग दिया । शुक्लजी ने रामप्रसाद निरंजनी द्वारा लिखित

‘भाषा योग वाशिष्ठ पुस्तक’ को प्रौढ़ भाषा की दृष्टि से महत्वपूर्ण माना है। गिलक्राइस्ट को कुल्लू आलोचक आधुनिक हिन्दी गद्य का जन्मदाता मानते हैं। वस्तुतः वे हिन्दुस्तानी के अधिक समर्थक थे।

शिवप्रसाद सितारेहिंद आरम्भ में शुद्ध सरल हिन्दी लिखते थे—‘राजा भोज का सपना’ शीर्षक निबंध इसका सुन्दर उदाहरण है। बाद में उन पर अरबी, फारसी का प्रभाव पड़ता गया। वे ‘आमफहम’ भाषा के पक्षपाती थे। शिक्षा विभाग में होने से उनकी नीति का समर्थन होने लगा। राजा लक्ष्मणसिंह ने शुद्ध संस्कृत प्रधान हिन्दी का पक्ष लिया। ‘अभिज्ञान शाकुन्तल’ का अनुवाद किया। उनका कहना था हिन्दी उर्दू दोनों न्यायी बोलियाँ हैं। भारतेन्दु के समय तक यही अनिश्चय रहा। उन्होंने पहली बार मध्यम मार्ग ग्रहण कर हिन्दी गद्य की भाषा को एक व्यवस्थित रूप दिया। समकालीन लेखक बालकृष्ण भट्ट, प्रतापनारायण मिश्र, बट्टीनारायण चौधरी आदि ने उन्हीं के दिए स्वरूप को पुष्ट किया। सन् १९०० के उपरान्त महावीरप्रसाद द्विवेदी ने इस भाषा को परिमार्जित, परिष्कृत कर व्याकरण सम्मत बना दिया। अब हिन्दी गद्य की भाषा प्रत्येक रचना की अभिव्यक्ति में समर्थ हो गई। यह भाषा खड़ी बोली का विकसित रूप थी।

भारतेन्दु आदि ने गद्य का माध्यम तो बदला लेकिन पद्य के क्षेत्र में ब्रज-भाषा को ही मान्यता दी। स्वयं भारतेन्दु ने खड़ी बोली कविता में प्रयोग अवश्य किए। वस्तुतः ब्रजभाषा नवीन विचारों को अभिव्यक्त करने में समर्थ न रही थी, कवियों ने उसका एक एक शब्द घिस कर कोमल अनुभूति के उपयुक्त बना लिया था। यह भी आन्दोलन हुआ जब गद्य का माध्यम खड़ी बोली हो सकती है तो उसमें कविता भी लिखी जा सकती है। भारतेन्दु युग के उपरान्त अयोध्या प्रसाद खत्री, श्रीधर पाठक, अम्बिकादत्त व्यास ने कार्य किया। खत्रीजी ने तो संवत् १९४५ में ‘खड़ी बोली आंदोलन’ ही प्रारम्भ कर दिया। उन्होंने खड़ी बोली पद्य की चार शैलियाँ निश्चित की थीं—मौलवी स्टाइल, मु शी स्टाइल, पण्डित स्टाइल, मास्टर स्टाइल। शुक्लजी ने इनका उल्लेख किया है। चन्द्रशेखर मिश्र ने सबसे पहले संस्कृत वृत्तों में खड़ी बोली के पद्य लिखे जिस परम्परा को हरिऔध ने बाद में विकसित किया। श्रीधर पाठक का स्थान स्वच्छन्दतावादी परम्परा में

महत्वपूर्ण है क्योंकि हिन्दी में पहली बार बँधी लीक से हट कर उन्होंने कविता के विषय, भाषा, छन्दों का व्यवहार किया था। 'श्रांत पथिक', 'एकान्तवासी योगी', 'ऊजड़ ग्राम' पुस्तकें अनुवाद होने पर भी अनुभूति, व्यञ्जना व रस से पूर्ण हैं। प्रकृति का आलम्बन रूप में स्वतन्त्र विधान तो पहले उन्हीं की कविता में मिलता है। साथ ही ब्रजभाषा में भी ये कविता लिखते रहे। अधिकांश कवि ब्रज व खड़ी बोली दोनों—में रचना करते रहे।

सन् १६०० के उपरान्त काव्य विषयो, शैली व छन्दों में भी अन्तर आने लगा। अभी तक कवित्त, सवैया, घनाक्षरी, रोला, छप्पय की प्रधानता थी, अन्तर्नवीन प्रयोग संस्कृत वर्ण वृत्तों का व्यवहार भी होने लगा। रायदेवीप्रसाद, रूपनारायण पाण्डे, महावीरप्रसाद द्विवेदी तथा हरिऔध इस क्षेत्र में विशेष हैं। वर्ण्य विषय भी विरतृत हो चले जिसने पङ्क्तियों की रूढ़ि से बाहर निकल कर अनुभूति को स्वतन्त्र क्षेत्र में ला खड़ा किया। सामाजिक समस्याओं पर हर्ष, आशा, दृढ़ता आदि अमूर्त विषयों पर कविताये लिखी गईं। कुरीतियों, अन्धविश्वासों पर भी लेखकों की दृष्टि गई। प्रकृति चित्रण भी स्वतन्त्र रूप में होने लगा। उसमें परोक्ष सत्ता के दर्शन, मानवीकरण की भावना भी मानी जाने लगी। नारी जागरण भी प्रमुख विषय रहा। कला पक्ष में भी भाषा को सँवारने, मुहावरे, कहावतों के प्रयोग से अभिव्यज्जना शक्ति बढ़ाने की चेष्टा की जाने लगी। आलोचकों की प्रधानता से कविता विश्लेषणात्मक रही।

गुप्तजी के समय यही साहित्यिक स्थिति थी। कविता में खड़ी बोली का प्रयोग तो होने लगा था किन्तु मिठास नहीं था। 'खड़ापन' लोगों को खटकता था। विषय भी पौराणिक या इतिवृत्तात्मक होने से कम आकर्षक थे। भाषा का बाल्य-काल था। प्रयोग स्थिर नहीं हो पाए थे। 'प्रिय प्रवास' ऐतिहासिक दृष्टि से महत्वपूर्ण है लेकिन डा० सत्येन्द्र का अनुमान है वह व्यवस्थित मार्ग उपस्थित नहीं कर सका। उर्दू छन्दों के प्रयोग में हिन्दी की प्रवृत्ति के अनुकूल सिद्ध न हुए। विषय क्षेत्र में विविधता थी, गहराई न आ सकी थी। गुप्तजी का साहित्यिक कृतित्व यह है कि हिन्दी कविता—भण्डार समृद्ध करना, खड़ी बोली को इतना स्टैंडर्ड रूप देना कि प्रत्येक व्यक्ति समझ सके। उनकी भाषा क्लिष्ट या उलझी हुई कही भी नहीं।

वैसे कुटियों भी हैं, दोष भी श्रेष्ठ कृतियों में खोजे जा सकते हैं, लेकिन गुप्तजी की ऐतिहासिक देन कोई अस्वीकार नहीं कर सकता। आज जब कि हिन्दी राष्ट्र-भाषा है, खड़ी बोली हिन्दी में गद्य और पद्य दोनों की एकमात्र भाषा बन गई है, गुप्तजी की रचनाओं का साहित्यिक आकलन हमारे लिए आवश्यक हो जाता है।

अध्याय ३

रचनाओं का विकास

गुप्तजी 'सरस्वती' के प्रकाशन से लेकर आज तक लिखते रहे हैं। सन् १९०५ से १९५० तक का समय स्थूल रूप से लिया जा सकता है। छोटी-बड़ी सभी रचनाएँ लगभग ३४ हैं जिनमें मौलिक, अनूदित सभी रचनाएँ हैं। ये हैं—साकेत, द्वापर, यशोधरा, भारतभारती, जयद्रथ बध, हिन्दू, भंकार, किसान, गुरुकुल, विकट भट, वैतालिक, शकुन्तला, पन्नावली, नहुष, विश्ववेदना, अर्जन और विमर्जन, कुणालगीत, शक्ति, पंचवटी, रंग में भंग, तिलोत्तमा, अनघ, सिद्धराज, मेघनादबध, कावा कर्बला, अजित, वीरांगना, विरहिणी वृजांगना, पलासी का युद्ध, स्वप्न बासवदत्ता, हिडम्बा, प्रदक्षिणा, पृथ्वी पुत्र, अजलि और अर्घ्य आदि।

काव्य के रूप में पहली महत्वपूर्ण रचना है 'रंग में भंग'। प्रकाशन सन् १९०६ में हुआ। १९१२ में 'भारतभारती' प्रकाशित हुई जिसमें तत्कालीन जन-प्रवृत्ति का, समाज का, काव्य-शैलियों का पूरा चित्रण है। अनेक राष्ट्रीय कविताएँ लिखकर जनता को वे प्रोत्साहन देने लगे। सन् १९२५ ई० के उपरान्त विशेष प्रौढ़ता आई। गुप्तजी जाति के उन्नायक रूप में सामने आए। सन् १९२५ में 'पंचवटी', 'अनघ', प्रकाशित हुए, सन् १९२७ में 'हिन्दू', 'त्रिपथगा' और सन् १९२६ में 'गुरुकुल', 'विकट भट', आदि। उन्होंने स्त्री शिक्षा, अछूतोंद्वारा का इनमें पूरा समर्थन किया है। सांस्कृतिक पक्ष भी उपेक्षित नहीं। कहीं होली का समर्थन करते हैं—

“पारस्परिक प्रेम बन्धन को टढ़ करती है होली.....”

हे हरि कभी, हिन्दुओं का यह शुभ दिन अस्तन होवे।”—तो कहीं किसानों से प्रति सहानुभूति प्रदर्शित की है। राष्ट्रीय आन्दोलन भी काव्य-विषय है।

‘बारडोली’ पर एक कविता है—“ओ विश्वस्त वागडोली ! ओ भारत की थर्मा पोली ।”

जातीयता, राष्ट्रीयता, ‘सिद्ध राज’ में व्यक्त हुई है—

“होंगे युग पुरुष स्वयं ही युग युग में
देना पड़े मूल्य चाहे हमें कितना बड़ा
हम यवनों से भी ठगाये नहीं जायेंगे...”

सन् १९३४ में ‘मंगलघट’, सन् १९२९ में ‘भकार’ पुस्तकें निकली । इनमें मुक्तकगीत है । कुछ जागरण उद्बोधन सम्बन्धी है, कुछ ईश्वर-भक्ति सम्बन्धी । ‘साकेत’ सन् १९३२ में प्रकाशित हुआ । सन् १९३४ में ‘यशोधरा’ निकली । इसके मंगलाचरण में कवि ने बुद्ध और राम की एकता घोषित की है । ‘द्वापर’ भी इसी समय की रचना है जिसमें राधाकृष्ण को नवीन रूप देने का प्रयत्न है । परवती रचनाएँ हैं—‘नहुष’ सन् १९४०, ‘कुणाल गीत’ सन् १९४२, ‘अजित’ सन् १९४३ । ‘दिवोदास’ नामक एक छोटी गीति नाट्य भी प्रकाशित हुआ है । ‘मेघनाद बध’ और ‘विरहिणी वृजागना’ अनूदित रचनाएँ हैं ।

विकास की दृष्टि से उनकी रचनाओं को दो भागों में रखा जा सकता है । सन् १९३० के पूर्व और १९३० के उपरान्त जिसमें सभी प्रौढ़, रचनाएँ आ जाती हैं । आरम्भिक रचनाओं को प्रयोग मानना चाहिए जो दृष्टिकोण का उत्तरोत्तर विकास स्पष्ट करती हैं । डा० सत्येन्द्र ने लिखा है—“भारतीय राज-पूती-शौर्य से आकर्षित होकर कवि भारतीयता को, फिर भारतीय-राष्ट्रता को प्रेम करने लगता है । उससे आगे उसमें राष्ट्रता मानवता में विलीन होने लगती है कि इसमें धार्मिक श्रद्धा और अनुभूति भक्त हो उठती है—और बस यहाँ से उसके काव्य का धरातल दूसरा हो जाता है ।”^(१)

भारत में जातीय गौरव की भावना जाग्रत करने के लिए अतीत के वीरता मूलक प्रसंग वर्णित होने चाहिएँ, राष्ट्रीयता का बोध तभी होगा जब भारतीय आत्म विश्वासी बनेंगे—इसी मान्यता को ध्यान में रख कर गुप्तजी ने महाभारत

के चरित्रों पर प्रकाश डाला, राजपूताने की शूर-वीरता के गीत गाए। उन्होंने लिखा भी था—“हिन्दी में आजकल ऐसी पुस्तकों की बड़ी आवश्यकता है जिनके द्वारा हमें अपनी पूर्व परिस्थिति का यथार्थ ज्ञान होकर सब प्रकार की उन्नति करने में प्रोत्साहन मिले”। ‘रंग में भग’ के अन्तर्गत “पूर्वजों के पूज्य भावों की बड़ाई गाइए” की प्रेरणा थी—

“आज भी चित्तौर का सुन नाम कुछ जादू भरा
चमक जाती चबला सो चित्त में करके त्वरा....”

‘जयद्रथ बध’ में ‘पूर्वजों के चित्र की शिखा तरंगे’ ध्यान में रहीं और ‘भारतभरती’ में तो स्पष्ट ही लिख दिया—

“हम कौन थे क्या हो गए हैं और क्या होंगे अभी
आओ विचारें आज ‘मल कर ये समस्याएँ सभी।”

‘त्रिपथगा’, ‘अनघ’ और ‘भुंकार’ तक गुप्तजी की कविता वर्णन प्रधान है जिसमें इतिवृत्तात्मकता है। ‘भारतभरती’ व ‘हिन्दू’ में दृष्टांतों की प्रधानता है। ‘जयद्रथ बध’ खण्ड काव्य की दृष्टि से अत्यन्त सफल रहा। उसमें चित्रण, उपदेश, झगड़कता, वीर भावना, रस चमत्कार, के साथ ही भाषा युक्त कला पक्ष भी प्रौढ़ है। ‘अनघ’ गीति नाट्य है और ‘तिलोत्तमा’ नाटक।

‘भुंकार’ मुक्तक कविताओं की दृष्टि से महत्वपूर्ण है। ईश्वर के प्रति रहस्य भावना, भक्त के उद्गार व्यजित है—

“तेरे घर के द्वार बहुत है किसमें होकर आऊँ मैं
सब द्वारों पर भीड़ लगी है, कैसे भीतर जाऊँ मैं ?”

भगवान नाना रूपों में व्यवत होता है किन्तु साधक पहचानता नहीं। कहीं उसकी कामना है—

“इस शरीर की सकल शिराएँ हों तेरी तंत्रों के तार
आघातों की क्या चिन्ता है, उठने दे ऊँची भुंकार !”

कुछ लोगो का यह कथन कि युग का प्रतिनिधि कवि बनने की उमर में यह छायावादी शैली का प्रयोग था, या छायावाद की पैरोकी था, ठीक मालूम नहीं

पड़ता। गुप्तजी की मूलधारा समन्वयात्मक रही है। नवीन शैली की विशेषताओं का समाहार करने का प्रयत्न ही 'भ्रकार' को मानना चाहिए। शून्य, तन्त्री, तार, वेदना आदि प्रतीकों का प्रयोग यही स्पष्ट करता है। कवि अपनी उमर में प्रत्येक शैली का प्रयोग कर चलता है। सफल रहे या असफल—यह प्रश्न दूसरा है। गुप्तजी ने यही प्रयोग किया। गुलाबरायजी का मत है, "इसमें आध्यात्मिक कविताओं का संग्रह है।" 'भ्रकार' की कविताएँ रहस्यवाद की कविताएँ कही जा सकती हैं। उनके रहस्यवाद में भावना और अनुभूति की पर्याप्त मात्रा होते हुए भी अस्पष्टता कम है। (२)

'अनघ' में 'जयद्रथ पथ' का आवेश कम हो गया है पर दृढ़ता, ओज बना रहा। विशेष मानवीय गुणों का प्राधान्य मिलता है। पद्य एक दृढ़वृत्ती ग्राम सुधारक के रूप में सामने हैं जो दुख सहने में भी वीरता मानता है। अन्त में शील की विजय होती है। राजनीतिक क्षेत्र में गांधीजी के विचार व्याप्त हो रहे थे। रवीन्द्र और मधुसूदनदत्त की विचारधारा ने भी गुप्तजी को प्रभावित किया; यहाँ लक्ष्य मानवता है। आरम्भ में ही वे लिखते हैं—

"न तन सेवा, न मन सेवा, न जीवन और धन।

मुझे है इष्ट जन सेवा, सदा सच्ची भुवन सेवा।"

सिद्धांतों की प्रधानता रहने से 'अनघ' में काव्यात्मकता कम हो गई है।

'पंचवटी' काव्य की दृष्टि से गुप्तजी की रचनाओं में विकास की कड़ी मानी जा सकती है। लक्ष्मण को सहृदय मानव के रूप में उपस्थित करना इसकी विशेषता है। वह कटोर सेवक ही नहीं अपितु सुख, दुख, प्रेम, हर्ष आदि भावों से प्रेरित होकर स्वतन्त्र व्यक्तित्व भी रखता है। उसकी नम्रता, उत्सर्ग का प्रकाशन है—“जाग रहा यह कौन धनुर्धर जब कि भुवन भर सोता है?”

इसके कथानक को उन्होंने अभिव्यक्ति के उपयुक्त बनाया और कल्पना का अधिक आश्रय लिया। अभी तक प्राप्त कथा विन्यास में गुप्तजी ने हेरफेर नहीं किया था। घटना परिवर्तन तो है ही, दृश्य वर्णन में भी काव्यत्व आ गया है—

(२) 'दि० सा० का सुबोध इतिहास'—गुलाबराय

गुप्त जी की काव्य-कला और साकेत

“कुछ कुछ अरुण, सुनहली कुछ कुछ
प्राची की अब भूषा थी,
पंचवटी की कुटी खोल कर
खड़ी स्वयं क्या ऊपा थी ?”

अभी तक गुप्तजी प्रकृति से प्रायः उदासीन थे। पात्रों के भाव सघर्ष, जीवन सम्बन्धी दृष्टिकोण से बाह्य मान्यताओं पर अधिक ध्यान था, अब प्रकृति का सौंदर्य वर्णन भी कविता का उपादान बन गया। ‘पंचवटी’ का आरम्भ ही रात्रि वर्णन से हुआ है—

“चारु चन्द्र की चंचल किरणें खेल रही है जल थल में
स्वच्छ चाँदनी बिछी हुई है अवनि और अम्बर तल में।
पुलक प्रकट करती है धरती हरित तृणों की नोकों से
मानो झूम रहे हैं तरु भी मन्द पवन के झोकों से !”

यह प्रकृति राम, लक्ष्मण, सीता आदि पात्रों के मनोभावों के उपयुक्त पीठिका तैयार करती है।

अभी तक गुप्तजी के पात्रों में ‘देवोपम आदर्शों’ की प्रधानता थी, मनुष्य कान्ति से वे ऊपर उठे हुए प्रतीत होते हैं—अब उनका रूप है तो मानव युक्त, किन्तु विशेष गुणों का विकास उन्हें जनसाधारण से श्रेष्ठ बना देता है। ‘पंचवटी’ के राम, सीता, आदि पात्र यथार्थ जगत के प्राणी ही लगते हैं।

इसी बीच हिन्दी कविता में एक समस्या उठी कि कविता को केवल कला माना जाय या भाव प्रसार, सुधार, मार्ग प्रदर्शन अथवा लोकहित का साधन माना जाय ? गुप्तजी की ‘पंचवटी’ के आरम्भ में पहले की तरह उपदेशात्मकता भी नहीं मिलती।

‘बक संहार’, ‘वन वैभव’ और ‘सैरन्धी’ पुस्तकें भी इसी समय लिखी गईं। कविता की कसौटी पर ‘पंचवटी’ की तरह तो ये उत्तम नहीं, हाँ, आंतरिक उल्लास बही है। भाव, भाषा और शैली में यहाँ से परिवर्तन हो चला है।

सन् १६३० के उपरांत गुप्तजी की वे अमर कृतियाँ हैं जो उन्हें महाकवि के आसन पर ला बैठाती हैं। 'साकेत', 'यशोधरा', 'द्वार', 'सिद्धराज' और 'नहुष' इस समय की रचनाएँ हैं। ऐसा प्रतीत होता है काव्य की उपेक्षिता गरियों का चित्रण उनमें प्रधान होता गया है। 'पंचवटी' में सीता की प्रधानता है, 'साकेत' में 'प्रथम सर्ग' से द्वादस सर्ग तक उमिला ही सामने लाई गई है और कैकेयी, सुमित्रा, कौशल्या के व्यक्तिगत पक्ष को बाणी दी गई है। 'यशोधरा' बिल्कुल स्त्री प्रधान रचना है, "आँचल में दूध" और "आँखों में पानी" उसका चरुप निश्चित करते हैं। 'सिद्धराज' में 'रानरुदे' और 'काचनदे' पाठकों का ध्यान आकर्षित करती हैं। विजय भी स्त्री को हुई है। 'द्वार' तथा 'नहुष' में मरुप भावना की पुनः प्रतिक्रिया है।

धर्म की व्याख्या अब प्रधान हो गई है। राम युग पुरुष है जो मनुष्य की देवत्व के गुणों से विभूषित करने के लिए अवतरित होते हैं। कथा वस्तु पक्का, मूलबद्ध थी, अब अखण्ड प्रवाह है, लगता है कथा के रूप में कविता लिखी गई हो। पात्र अधिक उज्ज्वल, उत्कर्ष युक्त हो गए हैं। वर्णन पद्धति में भाव शक्तता के साथ विचार पक्ष भी प्रधान हो गया है। "पर क्या न विप्रयोत्कृष्टता करती वेचरोत्कृष्टता" जैसी पंक्तियाँ लिखने वाला कवि "सखि नील नभस्सर में उतरा वह हंस अहा तरता तरता" जैसी मधुर पंक्तियाँ लिखने में समर्थ होने लगता है। संवाद अधिक विशद तथा वैदग्ध्यपूर्ण हो गए हैं। उन्हें आधुनिक केशव कहना चाहिए। उत्तर प्रत्युत्तर का सौंदर्य छंदों में निखर उठता है—

“सावधान !” बोला जगद्देव घुस घर में—

“भार है सती के पयवेक्षण का मुझको”

“किसके नियुक्त तुम ?”

“जेता जयसिंह के ।”

“मैं वह नहीं हूँ ?”

“तुम कोई व्यभिचारी हो।

कामी, क्रूर का पुरुष ?”

“सिद्धराज क्या हुआ ?”

“मर गया हाय ! तुम पापी प्रेत उसके !”

ऐसा सुगठित और चुन्त वार्तालाप ‘साकेत’ में भी उपलब्ध नहीं है।

कवि की कल्पना अब केवल कथा-निर्माण में नवीनता ही नहीं लाती अपितु चरित्रों का विकास, उपयुक्त पृष्ठ भूमि भी उपस्थित करती है। यहाँ पात्रों द्वारा आदर्शों की व्याख्या न होकर यथार्थ के धरातल पर उनकी स्थापना है।

काव्य के बाह्य विधान में भी परिवर्तन लक्षित होता है। अभी तक कवि अपने उद्देश्य के आरम्भ में ही व्यक्त कर देता था। ‘जयद्रथ वध’ की पहली पक्तियाँ हैं—

“वाचक प्रथम सर्वत्र ही जय जानकी जीवन कहो
फिर पूर्वजों के शील की शिक्षा तरंगों में बहो...!”

“भारत-भारती” का आरम्भ था—

हम कौन थे, क्या हो गए हैं और क्या होंगे अभी
आओ, विचारें आज मिल कर ये समस्यायें सभी !”

अब उद्देश्य व्यंजना प्रधान हो गया है। ‘सिद्धराज’ का मंगलाचरण है—

“आप अवतीर्ण हुए दुःख देव जन के
भ्रातृ हेतु राज्य छोड़, वासी बने बन के
राक्षसों को मार भार मेटा धरा धाम का
बड़े धर्म, दया-दान-युद्ध वीर राम का !”

‘साकेत’ में गणेश, सरस्वती की वदना से उद्देश्य झलकाया है, ‘यशोधरा’ में ‘अभिषेक’ से भक्ति मोगी है और ‘नहुष’ में—

“क्यों कर हो मेरे मन भानिक की रक्षा ओह
मार्ग के लुटेरे—काम, क्रोध मद, लोभ, मोह।

किन्तु मैं बढूँगा राम

लेकर तुम्हारा नाम

रखो बस तात, तुम थोड़ी क्षमा, थोड़ा छोह !”

छन्दों के क्षेत्र में अभी तक गुप्तजी 'हरिगीतिका' का प्रायः व्यवहार करते थे। अब तुकात अतुकात प्रयोग भी हैं। 'सिद्धराज' पूर्णतः अतुकात है किंतु प्रवाह अधिक आ गया है।

पात्रों के मानसिक घरातल में एक और परिवर्तन लक्षित होता है। कवि ने भाव-विश्लेषण की ओर अधिक रुचि प्रदर्शित की है। उर्मिला, कैकेयी के कथनों से उसकी मानसिक हलचल मूर्त रूप ग्रहण कर सामने आती है। 'द्वापर' में कथानक एक प्रकार से छूट सा गया है, मनोजगत के व्यापार अधिक आने लगे हैं जो सृष्टि के साथ हमारे रागात्मक तत्वों का संयोग कराने में समर्थ होते हैं। घटनाओं का क्रम शिथिल हो चला है, पात्रों में विचारात्मक प्रवृत्ति बढ़ चली है। समाज में मानव की क्षुब्ध स्थिति देख कर 'नहुष' उनकी कल्पना में आया। यहाँ नहुष समस्या सुलभाने में प्रवृत्त है। उत्थान से किम तरह पतन होता है, फिर पतन से भी उठकर किस प्रकार उन्नति की ओर अग्रसर हो सकता है इन्हीं का संकेत उसके वचनों से मिलता है—

गिरना क्या उसका, उठा ही नहीं जो कभी ?
मैं ही तो उठा था, आप गिरता हूँ जो अभी
फिर भी उठूँगा और बढ़ के रहूँगा मैं
नर हूँ, पुरुष हूँ, मैं चढ़ के रहूँगा मैं।”

इसी प्रकार यशोधरा द्वारा वे वीर क्षत्राणी की भावनाएँ प्रस्तुत करते हैं।

कहा जा सकता है कि गुप्तजी की काव्यात्मक प्रणाली उत्तरोत्तर सूक्ष्म होती गई है। आरम्भ की व्याख्या, शब्द बहुलता अब व्यञ्जनात्मक होती गई है। भाव प्रधान होने लगे हैं और तदनुकूल अभिव्यक्ति का माध्यम भी सशक्त होता गया है। इसका कारण कवि का विकास होना तथा खड़ी बोली का परिमार्जित होना है।

अध्याय ४

विषय विस्तार और वर्गीकरण

विषय-शैलियों की दृष्टि से गुप्ताजी की काव्य-कला का सम्यक विवेचन तभी संभव सकता है जब हम उनकी रचना-सामग्री समझ ले। अतः बहुत संक्षेप में परिचय दिया जा रहा है। रचनाएँ काल-क्रमानुसार हैं।

१—रंग मे भंग—ऐतिहासिक कथा वृत्त। बूढ़ी सम्राट वरसिंह के भाई लालसिंह की कन्या से चित्तौर के शिशोदिया राजा खेतल का विवाह। विदाई के समय यात विगड़ने से दोनों पक्षों में युद्ध। विधवा बधू का पति के शव को लेकर प्राण-त्याग। कथा करुणा प्रधान है, शैली उपदेशात्मक है, आरम्भ राम-वदना से है।

“जानता था भंग होना कौन गों रम रंग का
ध्यान था किसको अहो इस शोचनीय प्रसंग का ?”

२—जयद्रथ बध—ऐतिहासिक वृत्त पर ग्वण्ड काव्य। द्रोणान्वार्य द्वारा न्यूह सगठन, अर्जुन की अनुपस्थिति में पोटस वर्षीय अभिमन्यु का युद्ध-सन्नद्ध होकर प्रयाण, भीतर जाकर महारथियों से युद्ध, अन्याय से मृत्यु। उत्तरा-विलाप, अर्जुन का लौटकर प्रतिज्ञा करना और मूल कारण जयद्रथ का कृष्ण की सहायता से बध। आरम्भ “जय जानकी जीवन” की स्तुति से है। युद्ध-चित्र, युधिष्ठिर द्वारा कृष्ण वंदना, उत्तरा-विलाप आदि मार्मिक स्थल हैं।

“प्राणेश शव के निकट जाकर चरम दुख सहती हुई
वह नव बधू फिर गिर पड़ी हा ! नाथ हा कहती हुई।”

मैं हूँ वही जिसका हुआ था ग्रन्थि बन्धन साथ में
मैं हूँ वही जिसका लिया था हाथ अपने हाथ में....”

३—भारत-भारती—इसमें तीन प्रश्न हैं (१) हम कौन थे (२) क्या हो गए हैं (३) क्या होंगे ? इन्हीं के उत्तर स्वरूप तीन खण्ड—(१) अतीत खण्ड (२) वर्तमान खण्ड (३) भविष्यत् खण्ड । पहले में “देवलोक समान”, “संसार शिरोमणि” अतीत भारत की चर्चा है, जब यहा प्रकृति का पुण्य लीला-स्थल, मनोहर गिरि हिमालय और गंगाजल फैला हुआ था । सभ्यता का उषा काल था, गौतम, कपिल, कणाड दर्शनो की रचना कर रहे थे, शिव, हरिश्चन्द्र जैसे दानी थे, अनुगुप्ता, गाधारी जैसी नारिया ! भारत उस समय संसार रूप शरीर में प्राण रूप प्रसिद्ध था ! वर्तमान खण्ड में वैद्यम्य चित्रित है। दुर्भिक्ष है, जीवों काहाहाकार है, अमीर वर्ग अपनी दुनिया में मग्न हैं—“नृरेजहां की सत्तनत है, खून हो कि खराब हो” तथा विदेशों शिक्षा प्राप्त दिल्ली रहने पर भी भाड़ भोक्ते रहे ! यहा व्यय प्रधान है । तीसरे खण्ड में नवीन आशा संचार करने का प्रयत्न है । उद्योग, उत्साह को नवनिर्माण के लिए कवि आवश्यक मानता है—“होकर निराश कभी न बैठो, नित्य उद्योगी रहो ।”

प्राचीन की तुलना में वर्तमान को रख कर भविष्य के लिए संदेश दिया है ।

४—विराहणी ब्रजांगना—बगला में अनुवाद, मूल लेखक मधुसूदनदत्त । कवि का नामांतर ‘मधुप’ है ।

५—तिलोत्तमा—पौराणिक इतिवृत्त सम्बन्धी नाटक । ५ अंक है, १०० पृष्ठ । सुन्द उपसुन्द नामक दैत्यराजों को ब्रह्मा ने वरदान दिया, तुम्हें कोई नहीं मार सकता अतः दैत्यो का उत्सव । इन्द्र व कातिकेय भी देवकुल की रक्षा के लिए कटिबद्ध । कुमार जयन्त का देवासुर संग्राम के लिए प्रयाण । देव-दानवों का युद्ध, दानवों के अधिक शक्तिशाली होने से इन्द्र का ब्रह्मा के पास गमन । उर्वशी, रंभा अप्सराओं द्वारा दैत्य नायकों का मनोविनोद । इन्द्राणी का चिन्ता-ग्रस्त होना । ब्रह्मा द्वारा अपूर्व सुन्दरी ‘तिलोत्तमा’ का निर्माण जो दोनों दैत्य बधुओं को आकृष्ट करती है । उसे प्राप्त करने की प्रतिस्पर्धा में दोनों में युद्ध

और मृत्यु। नाटक पद्य में है, कथा कर्णाल है। उपदेश प्रधान है—

“सुन्द और उपसुन्द का है सबसे अनुरोध
सावधान, देखो, कभी उठे न बन्धु-विरोध!”

६—चन्द्रहास—पौराणिक नाटक। राजपुरोहित गालव एक अनाथ बालक चन्द्रहास को राजमन्त्री के यहाँ लाकर भविष्यवाणी करते हैं यह तुम्हारा पदाधिकारी हो सकता है। राजमन्त्री अपने पुत्र के रहते यह नहीं सह सकता, चन्द्रहास को जंगल में मार डालने की आज्ञा देता है लेकिन अधिक दयावश उसे जंगल में छोड़कर चले जाते हैं। राजा कुलन्दिक अश्वेत में आकर इस बालक को उठा ले जाता है, पालता है। राजमन्त्री फिर उसे मारने का पडयन्त्र करता है, सफल नहीं होता। कालांतर में चन्द्रहास कुन्तलपुर का राजा होता है। अतः वज्रेश्वरी के मन्दिर में राजमन्त्री चन्द्रहास के सम्मुख आत्मसमर्पण कर देता है। इसमें अन्तरद्वन्द, चरित्रों का विकास, नियति व्यवहार लक्षित है। न्याय की विजय होती है—

“इधर तो करुणा पकड़े खड़ी, उधर धार्मिकता जकड़े खड़ी
यह प्रसंग पड़ा अति घोर है, काँठनता समझो सब ओर है !”

७—किसान—यह काव्य वर्तमान जीवन पर लिखा गया है। गरीब कृषक की आत्म कथा—बाल्यजीवन के उपरान्त विवाह, दीनता और जीवन निर्वाह के लिए कुली जीवन। अफसर की कुटुम्ब। फिर सैनिक बनकर युद्ध में वीर गति। जीवन के तीन रूप जो प्रसृत किए तथा जो समय चुना वह ध्या देने योग्य है। यह अतोंत गाथा पर आधारित नहीं, इसलिए कवि की रूचि का द्योतक है।

“टिगरिस तट पर युद्ध स्थल में, वीरोचित गति को पाकर
अन्तिम वाणी से पल पल में, निज शोणित से लिखवाकर
हे भारत ! मरने के पहले, यह तेरा किसान सैनिक
तुझे दिए जाता है पहले, आत्म चरित ही चिर दैनिक !”

८—पत्रावली—इसमें पद्यात्मक सात पत्र हैं—(१) पृथ्वीराज का राणा प्रताप के लिए, (२) राणा प्रताप का प्रन्युत्तर, (३) औरंगजेब के प्रति शिवाजी का पत्र, (४) औरंगजेब का अपने पुत्र के लिए एक पत्र, (५) महाराजा जसवन्तसिंह के नाम रानी सिसोदिनी का पत्र, (६) राघोबा के लिए अहिल्याबाई का पत्र, और (७) महाराणा राजमिह के लिए राजकुमारी रूपवती का पत्र । राजपूतों की भावनाएँ, मनोवृत्तियों का विश्लेषण तथा औरंगजेब जैसे कठोर-हृदय व्यक्ति में गुणजी ने सहृदयता का विकास दिखाया है । वीर, शृंगार प्रधान रस है । राणा का स्वर आशाप्रद है—

मूँछें ऊँची रखूँगा मत फिर जकड़े दैन्य का बंध पाश...
सहूँगा दुःखों को सतत फिर स्वातन्त्र सुख से
करूँगा जीते जी प्रकट न कभी दैन्य मुख से !”

६—वैतालिक—है तो प्रबन्ध रचना किन्तु इतिवृत्तात्मक नहीं है । इसके द्वारा सब भारतीयों को उद्बुद्ध करने का प्रयत्न है । सामाजिक क्षेत्र में वे समन्वय-वादी हैं । पूर्वी-पश्चिमी मिडान्तों के आधार पर नई मानवता का निर्माण देखना चाहते हैं । आरम्भ के पद्य जागरण सूचक हैं । उपा, उसकी किरणों का वर्णन कल्पना की दृष्टि में उन्कृष्ट है । अन्त में मौलिक उन्नति का संकेत करते हुए भारत का महत्व प्रतिपादित किया है ।

“बने कूप मण्डूक निरे, रहो घरों में ही न धिरे.....
फिर अपने को याद करो, उठो अलौकिक भाव भरो...
यह सोने की मूर्ति उपा, नव स्फूर्ति की पूर्ति उपा
जगा रही है जगो, जगो, कर्तव्यों में लगे, लगे, !”

१०—शकुन्तला—पद्यात्मक प्रबन्ध कथा । कालिदास का प्रभाव । कथा प्रायः दुःख प्रधान है । पत्र, अवधि, अभिशाप, निन्दा, त्याग, स्मृति, कर्तव्य, मिलन—इन शीर्षकों के अन्तर्गत काव्य रचना हुई है । मिलन का दृश्य भव्य है जहाँ दुष्यन्त क्षमाप्रार्थी होकर भुक्तता है और शकुन्तला अग्ना ही दोष स्वीकार करती है । नारी के प्रति उदात्त दृष्टिकोण कवि का लक्षित होता है ।

भरत के नाम पर देश का नाम भारतवर्ष पड़ा—यह स्मरण कर काव्य समाप्त हो जाता है।

“भारत! अब वह समय क्या तुम्हें याद है ?
होता उसका कभी सहर्ष विषाद है ?”
वे दिन अब क्या तुम्हे मिलेंगे फिर, अहो
इसका उत्तर और कौन देगा, कहो ?”

११—पलासी का युद्ध—बगला से अनूदित रचना है। मूल लेखक हैं नवीनचन्द्र सेन। मुख्य घटना है कलाश्व के नेतृत्व में अग्रेजों की विजय, सिराजुद्दौला का कागवास और वध। काव्य सब बद्ध है और मूल काव्य का सा आनन्द आता है।

१२—पंचवटी—कथा काव्य कहना चाहिए जिसके नायक लक्ष्मण हैं। राम, सीता, शूर्पणखा के संवाद उन्हीं के चरित्र-विकास में सहायक होते हैं। कर्तव्य-निष्ठ व भावुक रूप चित्रित किया है। प्रकृति की घुटभूमि है, बनवास का समय होने से वातावरण करुण है। सभी पात्र विषाद में भी आनन्द के क्षण खोजते हैं। सीता-लक्ष्मण के संवाद मधुर हैं। प्रकृति चित्रण, भाव प्रवण कल्पना और भारतीय नारी भावना का दृष्टि में पंचवटी महत्वपूर्ण कृति है। उपा का चित्र है—

“इसो समय पौ फटी पूर्व में, पलटा प्रकृति-पटी का रंग
किरण-कंटको से श्यामाम्बर फटा, दिवा के दमके अंग !”

१३—अनघ—पद्य-बद्ध रूपक (नाटक) है। कथावस्तु बौद्ध कालीन है, जातक कथा का आधार लिया गया है। नायक बुद्धावतार है। एक जगल में मय पर कुछ चोर आक्रमण करने हैं, वह सामना करता है। कुछ राजसेवक उसके विरुद्ध होकर एक व्यक्ति को उसे मारने भेजते हैं। युवक वर्ग मय का सहायक है। सुरभि से उसका प्रेम है। षडयन्त्रकारी उसका घर जला देते हैं, कारागार में डाल देते हैं। राजदरबार में मय निर्दोष सिद्ध होता है और रानी स्वयं सुरभि का हाथ उसके हाथों में सौंप देती है। समाजसुधारकों के लिए

उदाहरण स्वरूप है जिसे निरन्तर बाधाओं का सामना करना होता है, अन्त में सफलता निश्चित है। मद्य का सिद्धान्त वाक्य है—

“किंतु विरोधी पर भी अपने, करुणा करो, न क्रोध करो...
अरे बद्ध हो क्यों अपने में, द्वार दया के खोलो।”

१४—स्वदेश संगीत—जैसा शीर्षक से स्पष्ट है देश सम्बन्धी स्फुट कविताएँ सग्रहोंत है, जो पत्रों में प्रकाशित भी होती रही थी। ‘अनिश्चय’, ‘वे बातें’ शीर्षक कविताएँ अतीत, वर्तमान को मनोस्थिति भूलकाती हैं। ‘निवेदन’, ‘विनय’, ‘प्रार्थना’ कविताओं में धार्मिक भावना प्रधान है। ‘उपा’, ‘आरोग्य-याचना’ भी आराधना परक हैं। ‘वृद्ध विवाह’ हाम्य रस का सुन्दर निरूपण है। ‘सत्याग्रह’, ‘गाथागीत’, ‘ओ पारडोलो’ कविताएँ देशभक्ति से अनुप्राणित हैं। कवि ईश्वर से माँगता है—

“ऐसी दया करो हे देव ! भारत में फिर ऊपा आवे” या
“हा हरे ! हा दीन बन्धो ! हा निभो ! विश्वंश !
कौन हर सकता हमारा, तुम बिन यह क्लेश !”

१५—मेघनाद वध—बगला से अनूदित रचना है। मूल लेखक मधुसूदन टत्त है। करुण रस प्रधान है।

१६—शक्ति—लघु कथा काव्य है। देवता दैत्यों के अत्याचारों से क्षुब्ध, चिंतित होकर बैठे हुए थे। हरि ने उन्हें कर्म में प्रवृत्त होने की राय दी सम्मिलित शक्ति द्वारा सगठित होने को कहा। विष्णु तथा इन्द्र, ब्रह्मा आदि देवों के शरीर से ज्योति पुज निकल कर महाशक्ति के रूप में साकार हुए, समुद्र, हिमालय, वनदेवी ने अनुकूल आभरणों की व्यवस्था की। इस महाशक्ति ने दैत्यों का मर्दन किया। स्वर्ग देवताओं के जय-जयकार से गूँज उठा। वीर रस का परिपाक है। भारतीयों के लिए निराशा में आशा का सन्देश स्वरूप यह काव्य है।—“सब शक्ति हो काले दैत्यों का मेटेगो आतक !” देवी की यह प्रतिज्ञा—

“उद्धत होकर असुर करेंगे जब जब अत्याचार
तब तब जग उद्धार करूँगी लूँगी मैं अवतार”—

गीता के इन श्लोकों का स्मरण अनायास करा देती है—

यदा यदा हि धर्मस्य, ग्लानिर्भवति भारत
अभ्युत्थान म धर्मस्य, तदात्मान सृजाम्यहम्
परित्राणाम साधूनां, विनाशाय च दुष्कृताम्
धर्मं संस्थापनार्थाय, संभवामि युगे युगे ! ”

१७—वन वैभव—सक्षेप में पाण्डव वनवास का इतिवृत्ति है। आरम्भ में उनकी दुःखद अवस्था का चित्रण है—वे वनवासी हैं, साथ में सेवक नहीं, वैभव विलान हो गए, सम्राट भिखारी हो गए ! दुर्योधन का वैभवपूर्ण जीवन इसके वैपश्य में है जहाँ निरन्तर नृपुरु को झकार होती है, जलकैलि, आग्वेट, क्रीड़ा, भेट और गान “गान गुँजार” हंते हैं ! चित्ररथ—कौरवों का युद्ध, युधिष्ठिर का सद्भाव उनकी सरल हृदयता का परिचायक है । उन्हें अपनी स्थिति पर सन्तोष है—

राम ने राज्य विभव छोड़ा, उन्हे था वन में दुख थोड़ा ?
भरत ने भी निज मुख मोड़ा, धर्म धन ही सबने जोड़ा
सहेगे दुःख हम भी धर्मार्थ पुण्य ही के हैं परम पदार्थ...

१८—वृकसंहार—कथा महाभारत की है। वृकामुर के भोजन के लिए प्रत्येक परिवार एक प्राणी भेजा करता था। ब्राह्मण परिवार की बारी आने पर कुन्ती ने अपना पुत्र भेजा जिससे राज्ञस मारा गया। माता का अन्तर्द्वन्द्व, ब्राह्मण की दैन्य वेदना बड़ी मार्मिक है।

१९—सैरन्ध्री—कथा महाभारत में कीचक वध प्रसंग में से ली गई है—तीन प्रधान पात्र हैं—द्रौपदी (सैरन्ध्री), कीचक और सुदेष्ण । द्रौपदी की असहाय स्थिति का चित्रण है जिससे कीचक लाभ उठाने का चेष्टा करता है। सुदेष्ण उसे पाण्डवों की चेतावनो देती है और पुरुष की कामवासना पर भी व्यग्य करती है—

“काव्य रीति को प्रीति का नाम नर देते हैं बस
कीट तृप्ति के लिये लूटते हैं प्रसून रस !”

कीचक मदोन्मत्त होकर द्रोपदी वेषधारो भीम का आलिगन करने से मृत्यु को प्राप्त होता है। “पापीजन का पाप उसी का भक्षक होगा”—इस तथ्य की सुन्दर व्यंजना हुई है।

२०—हिन्दू—स्फुट कविताओं का संग्रह है। अतीत का गौरव गान, वर्तमान की विषम दशा, भविष्य का उज्ज्वल रूप ‘भारत भारती’ का स्मरण कराने हैं लेकिन काव्य की दृष्टि से रचना उतनी श्रेष्ठ नहीं। दो एक स्थलों पर गांधी-वादी आन्दोलन, अहिंसा सत्य के सिद्धान्तों की व्याख्या भी है। सामाजिक रुढ़ि, कुरीतियों को कवि हिन्दू समाज के अधःपतन का मुख्य कारण मानता है। ‘विम्बुति’, ‘अभाव’ होने पर भी नैराश्य नहीं है। इसमें कवि का जातीय रूप अधिक प्रबुद्ध हो उठा है।

“किंतु करें यदि मिलकर आह, तो भी कौन सहे यह दाह ?”

२१—विकट भट—लघु कथा है। वीर, करुण भाव प्रधान है। देवीसिंह जोधपुर महाराज के सरदार थे। आपनी मर्यादा-रक्षा के लिए उन्हें प्राण त्याग करना पड़ा, एक पुत्र भी राजा की क्रोधाग्नि का शिकार बना। छोटा १२ वर्ष का पौत्र सवाईसिंह भी दरबार में बुलाया गया। माता ने समझाया जाने में कुशल नहीं है। फिर भी उसमें राजपूत रक्त ने जोर मारा, धैर्य से बोली—“ तो भी आन बान बिना जाना मरना ही है ।” सवाईसिंह ने बड़ी वीरता से महाराज को दरबार में उत्तर दिया। उन्होंने प्रसन्न होकर सरदार बना दिया।

२२—गुरुकुल—सिक्ख गुरुओं के जीवन वृत्त को पद्य बद्ध किया है। आधार भारत की दीन दशा है जब गुरु नानक का प्रादुर्भाव हुआ। क्रम से अंगद, अमरदास, रामदास, अर्जुन, हरगोविंद, हर राय, हरिकृष्ण, तेज बहादुर और गुरु गोविंद सिंह की जीवन कथा वर्णित की है। बाद में बंदा वैरागी तथा अन्य सिक्ख वीरों के वर्णन भी है। वीर रस है। बलिदान, आत्म-

त्याग, निर्भीकता, वीरता आदि गुणों का प्रकाशन हुआ है। शूरता का निरूपण गुरु अर्जुन सिंह से आरम्भ हुआ—

“गुरु अर्जुन ने निज बलि देकर मानो किया शिला विन्यास
चुना सिखाँ ने उस पर अपना अम्बर चुम्बी कीर्ति निवास !”

२३—भंकार—कविताओं का संग्रह है। ईश्वर सम्बन्धी हैं जिनमें लयावादी विशेषताएँ परिलक्षित होती हैं। न स्वर है, न ताल, केवल भंकार है जो “किसी शून्य में विहार” करती है। माला, खोज, कुहक, आँख मिचौनी आदि कविताओं में भक्त-साध्य की माधुर्य भावना नाना रूपों में व्यंजित हुई है। भगवान को पुरुष रूप, भवत को नारी रूप माना है जो शुद्ध भारतीय परंपरा के अनुसार है।

“दूती ! वैठी हूँ सज कर मैं
ले चल, शीघ्र मिलूँ प्रियतम सं
धाम धरा धन सब तज कर मैं।”

ठीक इसी तरह कबीर ने भी कहा था—

“पिया मिलन की आस रहूँ कब लौँ खरी...”

ऊँची गैल, राह रपटीलो, पाँव नहीं ठहराय !”

वेदना को ही वरदान मानने की भावना भी इन कविताओं में व्यक्त हुई है। वे बंधन मुक्त नहीं चाहते।—“सखे ! मेरे बंधन मत खोल !” छन्द प्रयोग में भी कहीं वैचित्र्य मिलता है।

२४—स्वप्न वासव दत्ता—संस्कृत के भास का अनूदित नाटक है। नायक है उदयन, नायिका है वासवदत्ता। दोनों में प्रेम होने पर भी मंत्रियों ने राज्य की रक्षा के लिए उदयन का विवाह पद्मावती से करा दिया, वासवदत्ता को छिपा दिया। परिस्थिति चक्र से उदयन उसको पुनः मिला। आत्मत्याग ने भारतीय नारी का गौरवपूर्ण चित्र प्रस्तुत किया है। वह उपेक्षित नायिका है।

२५—ठुबाइयात उमर खयाम—गुप्तजी ने अंगरेजी अनुवाद फिट्ज जेरल्ड से हिन्दी रूपान्तर किया है। मधुपात्र, हाला बाला, ससार की असारता

व्यक्त की है। मूल सौंदर्य तो नहीं आ सका, फिर भी सुबोधता है। २६ वीं रुबाई है—

“भरे, चले आओ, बिजों को करने दो बकवाद फिजूल
एक बात निश्चित है, क्षण क्षण उड़ती है जीवन की धूल
केवल एक बात निश्चित है, शेष और सब मिथ्या है
मुरझा जाता है सदैव को, एक बार जो खिलता फूल !

इसका अंगरेजी मूल रूप है—

“Oh, come with old Khayyam and leave the wise
To talk; one thing is certain, that life flies;
One thing is certain, and the Rest is Lies;
The Flower that once has blown for ever dies.”

२६—साकेत—इसके पहले चार सर्ग सन् १६७३-७४ में लिखे गए थे। महाकाव्य है और गुप्त जी की सर्वोत्तम कृति है। हिन्दी काव्य में ऐतिहासिक महत्व है। कवि की दृष्टि प्रायः दो वस्तुओं पर रही है—उर्मिला-चित्रण और राम-कथा का गान। इसके पद-विपद में यथेष्ट विवाद है। विस्तृत विवेचन अंतिम अध्यायो में किया गया है।

२७—यशोधरा—“अवला जीवन” को मूर्तिमान करने का कथात्मक प्रयत्न है। बुद्ध नारी को साधना में बाधक मानकर त्याग देते हैं। राहुल भी बाधक प्रतीत होता है। वैशाली, राजगृह, निरंजना के तट पर घोर तपस्वी की, शरीर तपाया किन्तु सिद्धि न मिली। बाद में मिताहार उचित समझा तो पाँचों साथियो ने तपोभ्रष्ट समझ लिया। अश्वत्थ के नीचे उन्हें बोधि ज्ञान हो गया। संसार को “मध्यमा प्रतिपदा” द्वारा उद्धार का मार्ग प्रदर्शन करने वे चल पड़े। बुद्ध कपिलवस्तु आते हैं, राजप्रासाद में उनका स्वागत होता है लेकिन यशोधरा भेंट करने नहीं जाती। वे स्वयं आते हैं और गोपा (यशोधरा) मान तजकर जीत जाती हैं। राहुल के चित्रण से माता के पतीत्व व मातृत्व में अतर्क्य भूलकाया गया है। यशोधरा के लिए “रुदन का हंसना ही तो गान”

हो जाता है। इसमें करुणा, विरह, वात्सल्य रसों के साथ अनेक भावों का समावेश हुआ है। उसकी निर्बलता में भी सजलता, क्षाणी का रूप है।

सखि वे मुझ से कह कर जाते

तो कह, क्या मुझको अपनी पथ बाधा ही पाते“ ”

क्योंकि वे ही पतियो को रण में भेजती थी ! चरित्र-चित्रण, प्रकृति-वर्णन, भावों का मनोविश्लेषण, विरह-व्यथा तथा भाषागत उक्ति वैचित्र्य—अनेक दृष्टियों से ‘यशोधरा’ एक उत्कृष्ट रचना है। यशोधरा के धैर्य का उल्लेख करते हुए गिरिश ने ठीक ही लिखा है—“वास्तव में सत्य बात तो यह है कि उर्मिला के अस्तित्व पर यशोधरा को अधिकार होना चाहिए था और यशोधरा की उच्च कल्पना और उच्च अनुभूति उर्मिला को मिलनी चाहिए थी।”

२८—**द्वितीय**—कथानक भागवत में लिया गया है। आत्मकथा के रूप में है। पुरुष पात्र कृष्ण, बलराम, नारद, उग्रसेन, कम, नन्द, उद्धव आदि हैं और स्त्री पात्र राधा, यशोदा, विधृता, देवकी, कुब्जा आदि, जिनका चित्रण करुण रस प्रधान है। कुब्जा वर्णन में कल्पना का विशेष योग होने से मधुरता आ गई है वह आधुनिका सी प्रतीत होती है—

“चमक गई बिजली सी भीतर, नस नस चौंक पड़ी थी

जन्म जन्म की कुब्जा क्षण में, सरला बनी खड़ी थी !”

गोपियों का उद्धव के ज्ञान योग की अपेक्षा प्रेम योग ही श्रेष्ठ प्रतीत होता है। उनकी गोष्ठी वर्षा की उपा जैसी है, भ्रमशील स्मृति की तरह है या—

“एक अतर्कित स्वप्न देख कर चकित चौंकेती धृति सी,

हो हो कर भी हुई न पूरी ऐसी अभिलाषा सी,

कुछ अटकी आशा सी, भटकी भावुक की भाषासी—”

है। यह भाव-सूक्ष्मता रत्नाकर की गोपियों का स्मरण करा देती है।

२९—**सिद्धराज**—ऐतिहासिक कथा काव्य है। मालव नरेश नरवर्मा पाटन के शासक सिद्धराज जयसिंह, महोदय के अधिपति मदनवर्मा के चतुर्दिक कथा वृत्त धूमता है। परन्तु विभाजन ५ सर्गों में है। दयादान युद्ध वीर राम के मंगला-

चरण के उपरान्त प्रथम सर्ग का आरम्भ विक्रम की १२ वीं सदी से हुआ है। मीलनदे सोमनाथ दर्शन को जा रही थी। राज-कर का बिरोध करनेवाला एक बन्दी बालक उसके सम्मुख लाया गया। निर्दोष पा छोड़कर वापस लौट रही थी कि पुत्र सिद्धराज मिल गया। उसने “कर का निदेश-पत्र” फाड़ डाला। यात्रियों ने जयकार किया। द्वितीय सर्ग में नरवर्मा का पाटन पर आक्रमण मन्त्री ने लौटा दिया। सिद्धराज ने अपमान समझ आक्रमण किया। नरवर्मा के उत्तराधिकारी यशोवर्मा ने भी प्रत्युत्तर में घोर युद्ध किया किन्तु सिद्धराज की “हार होते होते अक्रमात् जीत हो गई !” तृतीय सर्ग में मालव सेनापति जगद्देव सिद्धराज का प्रियपात्र हो गया। सोरठ के राना नवधन ने खगार पर सिद्धराज से बदला लेने की भावना छोड़कर महायात्रा की। उसका विवाह रानकदे से हुआ जिसे सिद्धराज चाहता था तो दोनों में युद्ध हो गया। सिद्धराज ने जीत कर रानकदे पर बलात्कार करना चाहा, पर जगद्देव ने बचा लिया। चतुर्थ सर्ग में माता की अशान्ति है “क्योंकि वह अभी निस्सतान थी। वह सपादलक्ष्वालों से अपने पिता की पराजय का बदला भी नहीं ले सका था। उसने आणासागर पर हमला कर अणोरिज को बन्दी बनाया। पंचम सर्ग में मदनवर्मा से सधि है। सिद्धराज विस्मय में यही देखता रहा कि “भोगी है मदनवर्मा किवा एक योगी है !”

वीर रस प्रधान है। रानकदे का वृत्त अवश्य करण है—सोरठ की रागिनी में जिसकी पीड़ा आज भी गूँजती है। वार्तालाप बड़े सजीव हैं और पात्रों का स्वरूप तो बिल्कुल मूर्तिमान हो जाता है। सिद्धराज का रेखा चित्र है—

“युवक उदार वीर उच्च उदयाद्रि के
शिखर समान, चित्र भानु सा किरिटी था,
सहज प्रसन्न मुख, लोचन विशाल थे
भाल पर भौंहें, दृढ़ निश्चय की रेखा सी।
लाल लाल होठों पर सूक्ष्म मसि लेखा थी
किन्तु पड़ती थी दृष्टि जाके वहीं उल्टी
हेतु होरहा था आपटीठ, का डिठौना ही !
पीन वृष कन्ध, क्षीण सिंह कटि साहसी

दीर्घ हरिस्त हास्त, मानो पशुता के पुण्य की
देव साधना का वह पुण्य नर क्षेत्र था !”

छन्द अतुकात है किंतु प्रवाह भाषा को बहुत शक्ति पूर्ण कर देता है ।

३०—नहुष—यह भी प्रबन्ध काव्य है जिसकी कथा महाभारत के उद्योग पर्व से ली गई है । चन्द्रवंशी नहुष बुद्धिमान व शक्तिशाली राजा था । इन्द्र को जब प्रायश्चित्त करना पड़ा तो इन्हे स्वर्ग का नवीन अधिपति बनाया गया । वैभव व सुन्दरी उर्वशी ने इस पर मादक प्रभाव डाला । शची की झलक मिलने पर इसने दूती द्वारा प्रणय निवेदन किया । शची पद की दृष्टि से नहुष की उपभोग्य थी, किन्तु सतीत्व की दृष्टि से वह पदच्युत इन्द्र की । सोच-विचार के बाद उसने सदेश भेजा कि नहुष सप्तर्षियों के कन्धे पर चढ़ कर आये तो वह मिलेगी । नहुष ने पद प्रहार से मन्द गति ऋषियों को तेज चलने के लिए कहा तो अग्रस्त्य ने आप दे दिया । नहुष सर्प योनि को प्राप्त हुआ । यह पतन ‘नहुष’ की आत्मा को जाग्रत हर देता है । उसे आत्मग्लानि होती है—

“मानता हूं भूल हुई, खेद मुझे इसका
सौंपे वही कार्य उसे धार्य हो जो जिसका !”

फिर भी जीवन से वह निराश नहीं होता । आत्म-विश्वास से प्रेरित होकर कहता है—

“नर हूँ, पुरुष हूँ मैं, चढ़ के रहूंगा मैं !”

इसमें शची का अन्तर्द्वन्द्व और नहुष का पतन के बाद के उत्थान का बल सुन्दर अभिव्यक्त हुआ है ।

इन तीस पुस्तकों के अतिरिक्त गुप्तजी की चार पुस्तकें और हैं— (१) ‘पद्य प्रबन्ध’ (संवत् १६६६), (२) ‘गीतामृत’ (संवत् १६८२), (३) ‘वीरागना’ (संवत् १६८४), (४) ‘दिवोदास’ । इनमें विषय की दृष्टि से कोई नवीनता नहीं मिलती ।

उपर्युक्त रचनाओं के आधार पर विषय वस्तु की समीक्षा करते हुए डा०सत्येन्द्र ने गुप्तजी की कतियों में छैः मुख्य दिशाओं का उल्लेख किया है—

- (१) राष्ट्रीय
- (२) महाभारत सम्बन्धिनी
- (३) रामचरित सम्बन्धिनी
- (४) बौद्ध कालीन
- (५) सिक्ख तथा अन्य ऐतिहासिक घटना संबंधिनी
- (६) पौराणिक । (१)

प्रो० धर्मेन्द्र ने इन विभागों में कुछ परिवर्तन करते हुए एक तालिका दी है जिससे रचनाओं के श्रोतों का श्रेणीगत परिचय भी मिल जाता है—

संख्या	श्रोत श्रेणी	रचनाएँ
१	राष्ट्रीय, जातीय एवं सामाजिक	स्वदेश सँगीत, भारत भारती, बैतालिक, किसान
२	रामचरित मूलक	साकेत, पंचवटी
३	कृष्णचरित मूलक	द्रापर
४	बौद्ध संस्कृति मूलक	यशोधरा, अनन्य
५	हिन्दू संस्कृति मूलक	हिन्दू, विकट भट, रंग में भंग, पगावली
३	सिक्ख संस्कृति मूलक	गुरुकुल
७	पुराण मूलक	चन्द्रहास, शकुन्तला, तिलोत्तमा, शक्ति
८	महाभारत मूलक	जयद्रथ वध, सैरन्ध्री, बक संहार, वन वैभव, नहुष
९	विविध (संग्रहात्मक)	मँगल घट, भंकार
१०	इस्लाम धर्म मूलक	कावा और कर्बला

इस तालिका से उन्होंने निष्कर्ष निकाले हैं—(२)

(१) गुप्त जी के काव्यों का प्रतिपादन विषय बहुत व्यापक है ।

(१) 'गुप्तजी की कला'—डा० सत्येन्द्र

(२) 'गुप्तजी के काव्य की काव्यय धारा'—प्रो० धर्मेन्द्र

(२) उन्हें जितनी अपने अतीत गौरव की उद्भावना की लालसा है उतनी वर्तमान राष्ट्र या समाज के जीवित चित्र अंकित करने की नहीं ।

(३) संस्कृति की विस्तृत परिधि में उन्होंने बौद्ध, हिन्दू और सिक्ख तीनों को सम्मिलित किया है । संकुचित सम्प्रदाय वादिता से वे ऊपर उठे हुए हैं ।

विस्तार व काव्य रचना शैली से कुछ ऐसा वर्गीकरण किया जा सकता है—

१—प्रबंध काव्यः—(इसमें महाकाव्य, खण्ड काव्य, कथाकाव्य सम्मिलित हैं)—‘रंग में भंग’, ‘जयद्रथ वध’, ‘शकुन्तला’, ‘पंचवटी’, ‘बक संहार’, ‘सैरन्ध्री’, ‘वन वैभव’, ‘विकट भट’, ‘किसान’, ‘गुरुकुल’, ‘साकेत’, ‘द्वापर’, यशोधरा, सिद्धराज, नहुष, शक्ति ।

२—मुक्तक काव्यः—(इसमें स्फुट रचनाएँ, समस्यात्मक विचार छोटे वृत्त आदि हैं)—‘भारत भारती’, ‘स्वदेश संगीत’, ‘मंगल घट’, ‘भंकार’, ‘पत्रावली’, ‘वैतालिक’ और ‘हिन्दू’ ।

३—रूपकः—‘अनघ’, ‘चन्द्रहास’ और ‘तिलोत्तमा’ ।

४—अनुवादः—‘विरहिणी व्रजंगना’, ‘मेघनाद वध’, ‘पलासी का युद्ध’ स्वप्न वासन दत्ता और रुद्राख्यात उमर खैयाम ।

यशोधरा में गद्य पद्य का मिश्रण है । ऐसे प्रयोग अनेक स्थानों पर और भी हैं ।

डा० रामरतन भटनागर ने विषयो के अनुसार ८ वर्ग निर्धारित किए हैंः—

१—“पौराणिक काव्य”—जयद्रथ वध, तिलोत्तमा, चन्द्रहास, त्रिपथगा, शक्ति और नहुष ।

२—“खण्ड काव्य और महाकाव्य”—पंचवटी, साकेत और द्वापर ।

३—“आत्म कथा काव्य”—रंग में भंग, अनघ, गुरुकुल, विकट भट, सिद्धराज, कुणाल गीत ।

(१) ‘मैथिलीशरण गुप्त’—डा० रामरतन भटनागर ।

४--“चंपू”-- यशोधरा ।

५--“देश भक्ति पूर्ण काव्य”--भारत भारती, स्वदेश संगीत, किसान,

६--“हिन्दू जातीयता”--“हिन्दू में वह इस दिशा में विशेष रूप से सतर्क हैं ।”

७--“मुक्तक”--पद्य-प्रबन्ध, वैतालिक, भंकार, मँगल घट ।

८--“अनुवाद”--मेघनाद वध, पञ्चावली, उमर खैयाम की रुबाइयों ।

अध्याय ५

राष्ट्रीय कवि या जातीय कवि ?

गुप्तजी राष्ट्रीय कवि तो हैं किन्तु राष्ट्रीयता की अपेक्षा जातीय गौरव की भावना उनमें प्रधान है। वैसे उन्होंने 'कावा करवला' लिखा है, 'उमर खैयाम' का अनुवाद भी किया है और ईसा मसीह पर भी कविताएँ लिखी हैं किन्तु इतने पर भी राष्ट्रीय कहना आधुनिक व्याख्या के अनुसार ठीक नहीं। एक तो कवि की रुचि भारत के अतीत गौरव गान में है जब हिन्दू संस्कृति थी। वर्तमान जीवन समाज की कथाएँ उन्हें प्रेरणाएँ नहीं देती क्योंकि अधिकांश पौराणिक, ऐतिहासिक हैं। उपन्यासकार प्रेमचन्दजी की तरह गुप्तजी ने अपनी रचनाओं, में हिन्दू-मुसलमानों को बराबर स्थान नहीं दिया। किसी सम्बन्ध में एकाध कविता या लघु रचना तैयार करना 'कवि' के मन की उमंग' ही मानी जा सकती है, प्रवृत्ति विशेष नहीं। हाँ, यदि भारत-भूमि में मुसलमानों को भी हिन्दू मान लिया जाय, अर्थात् एक ही जाति की कल्पना की जाय तब निस्संदेह वे राष्ट्र के वैतालिक हैं।

दूसरी बात यह कि उनके पुनरुत्थान, जागरण या सुधार सम्बन्धी सशोधन हिन्दू समाज के प्रति है। पुराण-इतिहास द्वारा हिन्दू जातीयता को नया रूप दिया है। हिन्दू संस्कृति का गान करने से वे जातीय कवि हुए। 'गुप्तकुल' में यवनों के विरुद्ध भाव व्यक्त है, "हतभाग्य हिन्दू जाति" उनकी भारती का विषय बनी है और 'हिन्दू' काव्य तो जातीय भावपूर्ण है ही। कवि का 'हिन्दुस्तान' हिन्दुओं का ही केन्द्र है। 'जाति वहिष्कार', 'प्रतिकार' आदि कविताओं में तो वे कहते हैं—हिन्दुओं को मुसलमान, ईसाई नहीं होना चाहिए चाहे वे अरने हो जाय—

“जो पर हैं अपने हो जायं, न कि उल्टे अपने खो जायँ !”

और जैसा प्रो० धर्मेन्द्र का कहना है उन्हें काव्य के उपेक्षितों—गरीब मजदूरों को भी वर्ण्य विषय बनाना चाहिये था । “किसान के समकक्ष और काव्यों का निर्माण करके गुप्तजी ने हमारा बड़ा उपकार किया होता ।” डा० राम-रतन भटनागर ने ‘भारत भारती’, ‘शक्ति’, ‘विकट भट’, ‘सिद्धराज’, ‘हिन्दू’, को जातीय काव्यों के अन्तर्गत लिया है और केन्द्र ‘गीता’ माना है जिसका निष्काम कर्मवाद सदेश रूप में हिन्दू जनता के सामने रखा गया है—

“श्री शुक ने सब को छोड़ा, रंभा से भी मुख मोड़ा
किन्तु विदेह कर्म योगी, मुक्त रहे रह कर भोगी
प्रकृति पुरुष की है क्रीड़ा, कभी विकास, कभी ब्रीड़ा***
यही तुम्हारा भी क्रम हो मित्र तभी सार्थक श्रम हो !”

किन्तु गुप्तजी की जातीय भावना तथा राष्ट्र-भावना में कोई भेद नहीं है । बात यह है कि बीसवीं सदी के आरम्भ में देश को जगाने की जो लहर सारे देश में व्याप्त हो रही थी, गुप्तजी ने भी प्राचीन गौरव का उल्लेख कर, इसमें सहयोग दिया । बौद्धिक दृष्टि से भारतीय इतिहास में यह पुनरुत्थान—Renaissance का समय है । युग की माँग ही गौरवगान की थी । सभी कवि-लेखक ऐसा कर रहे थे । इसी भावना ने राष्ट्रीयता, देश की अखण्ड भावना को भी बल दिया । गुप्तजी अपने संस्कार, वातावरण तथा अध्ययन के अनुसार प्राचीन की ओर उन्मुख हुए जब यही हिन्दू सत्ता थी । अतः उनकी हिन्दू भावना तथा राष्ट्र भावना में अन्तर नहीं मानना चाहिए, भारत-भूमि हिन्दुओं की भूमि है । यथार्थ जीवन पर भी उनकी दृष्टि रही है ।

मैथिलीशरण गुप्त जी ने समाज के सभी अंगों पर कुछ न कुछ लिखा है । प्राचीन सामाजिक और साँस्कृतिक उन्नति की भूमिका पर कवि आधुनिक सामाजिक अयोग्यता का चित्र खींचता है और इस प्रकार जनता को सामाजिक सुधार के लिए उत्तेजित करता रहता है । हिन्दू-समाज में अग्रगण्य ब्राह्मणों से अपने कर्तव्यपालन के लिए गुप्तजी प्रार्थना करते हैं । ऐसा न करने से अवनति का सारा दोष उन्हीं पर होगा । प्राचीन सुसमय स्वप्न ही रहेगा और अच्छे दिन आवेंगे—

“तुम होकर भी कुश पाणि विश्व के शासक थे
बल विक्रम बुद्धि विकास त्रास दुख नाशक थे
करते थे प्रकट प्रभाव नित्य तुम नए नए
बोलो तो वे कर्म अब तुम्हारे कहाँ गए ?
यदि अब भी तुम कर्तव्य न पाओगे अपना
तो रह जायगा पूर्व काल निश्चय सपना
हिन्दू समाज के दोष तुम्हीं पर आने हैं
सब बातों में अगुवा ही पूछे जाते हैं।”

(सरस्वती, खंड ११, से० ५, १६१०)

“मैथिलीशरण गुप्त ने स्त्री शिक्षा और अछूतोद्धार का भरपूर समर्थन किया है। सामाजिक उन्नति में उनकी रचनाओं ने विशेष योग दिया है। सामाजिक सुधार के साथ-साथ सांस्कृतिक पक्ष की अवहेलना भी नहीं हुई है। भारतेन्दु युग के कवियों के समान मैथिलीशरण गुप्त भी पश्चिमी रहन-सहन के सर्वांगीण अनुकरण के विरोधी हैं, वे अपनी सामाजिक मनोदृष्टि को विदेशी रहन-सहन की अनुगामिनी नहीं बनाना चाहते। इन्हें अपने सामाजिक रीति-रिवाजों से प्रेम है और ये उनकी रक्षा में तत्पर हैं। इसलिए ये अपने प्राचीन रीति नियमों को दोषपूर्ण समझनेवाले पश्चिमी सभ्यता में रंगे युवकों पर व्यंग की वर्षा करते हैं। इन्होंने होली के उत्सव का जोरदार समर्थन किया है। कुछ लोगों के होली के असभ्य उत्सव करने पर इन्होंने इसके सत्प्रभाव का गुणगान किया है—

“सचमुच ही क्या फाग खेलना है असभ्यता लक्षण
सभ्यों की यह नई समझ है अद्भुत और विलक्षण
किन्तु हमारी ग्राम्य बुद्धि में यही बात दृढ़ होली
पारस्परिक प्रेम बंधन को दृढ़ करती है होली
है यह ऐसा समत हमारे सब दुःखों में खोवे
दे हार कभी हिन्दुओं का यह शुभ दिन अस्त न होवे।”

(आधुनिक काव्य पृ० १६५-६७)

“मैथिलीशरण गुप्त की रचनाएँ कवि का अतीत प्रेम प्रकट करती हैं इसकी पूरी अभिव्यक्ति ‘भारत भारती’ में हुई है। द्वितीय उत्थान कवि के नाते गुप्तजी ने जनता की मौन भावना को वाणी दी है। इनकी यह विशेषता इस पुस्तक में भी लक्षित होती है। इसके द्वारा इसका विशेष ख्याति हुई। यह पुस्तक हाली के ‘मदोज़ज़र इस्लाम’ के उदाहरण पर लिखी गई है और इसमें भारत के प्राचीन गौरव, वर्तमान दुर्दशा और आशापूर्ण भविष्य के भविष्य-चित्र हैं। इतिवृत्तात्मक होते हुए भी ‘भारत भारती’ नवयुवकों में अत्यन्त लोकप्रिय हुई।

“किसानों के प्रति सबसे अधिक सहानुभूति मैथिलीशरण गुप्त में है। किसानों पर इनकी बहुत सी रचनाएँ हैं। ‘किसान’ कृषकों की समस्या का चित्र उपस्थित करता है। कवि की सहानुभूति ‘साकेत’ की प्राचीन कथा के बीच उमड़ पड़ी है। ‘साकेत’ में किसानों की समस्या अन्य आधुनिक समस्याओं की अपेक्षा अधिक प्रमुख हैं। यहाँ पर उनकी स्वतन्त्र से किसानों की दुरावस्था की कुछ पक्तियाँ उद्धृत की जाती है:—

पाया हमने प्रभो कौन सा त्रास नहीं है
क्या अब भी परिपूर्ण हमारा द्वास नहीं है
मिला हम क्या यहीं नरक का वास नहीं है
बिष खाने को हाथ टका भी पास नहीं है
कृषि निन्दक मर जाय अभी यदि हो वह जीता
पर वह गौरव, समय कभी का है अब बीता

कवि उनकी अशिद्धा का चित्रण करता है—

“ शिद्धा को हम और हमें शिद्धा रोती है
पूरी बस वह घास खोदने में होती है
यहाँ कहीं विज्ञान, रसायन भी सोती है
हुआ हमारे लिये एक दाना मोती है—”

“किसानों की दुरावस्था के ये चित्र निष्प्रयोजन नहीं हैं। ये रचनाएँ जनता को अपनी दशा सुधारने की प्रेरणा करती हैं और इस प्रकार देश की उन्नति में

सहायता पहुँचाती हैं। इन रचनाओं से देशवासियों को भारत के सुदिन लाने की उत्तेजना मिलती है.....”

चूँकि गुप्त जी की प्रत्येक रचना राष्ट्रीय उत्थान के लिये है, इसलिए वे राष्ट्रीय कवि हैं। उनकी हुँकार अतीत शौर्य के साथ ही आधुनिक आंदोलन भी उन्हें प्रेरित करते रहे हैं। अविच्छिन्न और अखण्ड देश को भावनाएँ ही राष्ट्रीयता का आधार बन जाती हैं।

“ वही पंचनद राजस्थान, प्राप्त जिन्हें है गौरव मान
वही बिहार उड़ीसा बंग, हौं अजय भारत के अंग
युद्ध मध्य, पांचाल पुलिन्द, चोर्द, कच्छ, कश्मीर, कुलिन्द
द्रविड, यद, मालव, कर्णाट, महाराष्ट्र, सौराष्ट्र, विराट
कामरूप, किंवा, आसाम, सातों पुरियाँ आठों धाम
अटक कटक तक एक अभंग, दुख में सुख में हों सब संग

इस राष्ट्रीय भावना का एक उद्देश्य गुप्त जी का रहा—भारत को स्वतन्त्र देखना, पुनः आत्म शक्ति से पूर्ण, वैभव मण्डित देखना, ब्राह्मण, क्षत्री, वैश्य, शूद्र, साधू सत, शिक्षित, नेता, कवि, युवक, धनी, सभी को आशाप्रद संदेश देते हैं—

“ सबकी नसों में पूर्वजों का पुराम रक्त प्रवाह हो
गुण, शील, साहस, बल तथा सब में भरा उत्साह हो
सबके हृदय में सर्वदा समवेदन का दाह हो
हमको तुम्हारी चाह हो, तुमको हमारी चाह हो ”

राष्ट्रीयता की कुछ विशेषताएँ इस प्रकार हो सकती हैं—

१. अतीत गौरव गान — सोते हुए भारतीयों को कर्तव्य के प्रति सचेष्ट करना गुप्त जी का प्रधान लक्ष्य रहा है। प्राचीन भारत का वैभव यश, साँस्कृतिक चित्रण ही आँख खोलने में सहायक हो सकता था इसलिए स्फुट रचनाओं में ही

नहीं प्रबंध काव्यों में भी स्थल खोज कर भौंका प्रस्तुत की है। उनका अखण्ड विश्वास था भारत की प्राचीन सभ्यता सर्वश्रेष्ठ थी, वह अब भी प्रेरक हो सकती है। आर्य भावना उन्हें सर्वत्र प्रिय रही है क्योंकि वे निरपेक्ष, परोपकारी, निरंतर सांस्कृतिक संयोजनो में लगे रहते थे। जयशंकर प्रसाद की तरह गुप्त जी की मान्यता है—“है आज पश्चिम में प्रभा जो, पूर्व से ही हो गई।” अतः भारत, आर्य, उद्भव, आदर्शों का विवरण देते वे नहीं थकते। ‘साकेत’ में अयोध्या को “अवनी की अमरावती” कहा है तो ‘भारत भारती’ में श्रेष्ठता प्रतिपादित है—

“ भू लोक का गौरव प्रकृति का पुण्य लीला स्थल कहाँ
फेला मनोहर गिरि हिमालय और गंगाजल जहाँ
सम्पूर्ण देशों से अधिक किस देश का उत्कर्ष है ?
उसका कि जो ऋषिभूमि है वह, कौन ? भारत वर्ष ?

यह पुण्य भूमि प्रसिद्ध है इसके निवासो आर्य हैं
विद्या, कला वौशल्य सबके जो प्रथम आचार्य हैं
संतान उनकी आज यद्यपि हम अधोगति में पड़े
पर चिन्ह उनकी उच्चता के आज भी कुछ हैं खड़े...

२ देशभक्ति—प्रत्येक पात्र “जननी जन्म भूमिश्च स्वर्गादपि गरीयसी” की भावना से प्रेरित है। चाहे ‘साकेत’ के राम हों या ‘सिद्धराज’ का जयसिंह, या ‘अनन्त’ का ‘बुट्ट’ अपने देश से सबको प्रेम है। ‘रंग में रंग’ का कुंभ तक इस भावना से प्रेरित है—

“ तोड़ने दूँ क्या इसे नकली किला में मान के
पूजते हैं भक्त क्या प्रभू मूर्ति को जड़ जान के
औरत जन उसको भले ही जड़ कहें अज्ञान से
देखते भगवान को श्रीमान उसमें ध्यान से
है न कुछ चित्तौड़, यह बूढ़ी इसे अब मानिए
मातृभूमि पवित्र मेरी पूजनीया जानिए ! ”

मदनमोहन आर्य भूमि में ही सब सस्कृतियों के सम्मिलन की कामना करता है। कविताओं में भी भारत की स्तुति करते हैं—

“ मेरे भारत ! मेरे देश, बलिहारी तेरा वर वेश
बंधन में भी मुक्ति निवेश.....”

३ नारी के प्रति उदास दृष्टि—गुप्त जी का नारी चित्रण आदर्श मूलक है। उनमें उच्च भाव प्रतिष्ठित करने का यह भी कारण है कि राष्ट्र निर्माण में, देश सेवक उत्पन्न करने में वे ही सहायक हो सकती हैं अतः आर्य गुण, मर्यादा, शिक्षा का उन्होंने समर्थन किया है। ‘यशोधरा’ भिक्षा को मृत्यु बराबर मानती है, उर्मिला को चित्रकारिता, संगीत, कथा में निपुणता है। यहाँ तक कि शर्पणखा भी तर्क-वितर्क में पीछे नहीं !

“मूँदे रही दोनों नयन आमरण गांधारी जहाँ
पति संग दमयन्ती स्वयं बन बन फिरी मारी जहाँ
यों ही जहाँ की नारियों ने धर्म का पालन किया
आश्चर्य क्या फिर ईश ने जो दिव्य बल उनको दिया !”

४—भारतीयों को उद्बोधन—कवि पहले वर्तमान वैषम्य, दैन्य से परिचित कराता है। मध्यवसाय न होने से हास होता गया, पूर्ण वर्णन सुनने से घोर व्यथा उत्पन्न होती है। अतः कहीं तो पात्रों में भोग-योग, पूर्व पश्चिम की मान्यताओं के समन्वय से नव निर्माण को कहते हैं, कहीं मनोवैज्ञानिक रूप से पतन के उपरान्त स्वभावतः उत्कर्ष मूलक प्रवृत्ति का बोध कराते हैं, कहीं सीधे उपदेश देते हैं—

“हे ब्राह्मणो ! फिर पूर्वजों के सुख तुम झानी बनो ”
“ज्ञत्रिय ! सुनो अब तो कुयश की कालिमा को मेट दो”
“बैश्यो ! सुनो व्यापार सारा मिट चुका है देश का”
“शूद्रो ! उठो तुम भी कि भारत भूमि डूबी जा रही”
“हे साधुओं ! सोए बहुत अब ईश्वराराधन करो”
हे देश नेताओ ! तुम्हीं पर सब हमारा भार है”...आदि

५—साँस्कृतिक सुधार—गुप्तजी वाद्य जीवन के उन्नति के साथ साथ भीतरी बहिर्गता, सरलता, निष्कपट व्यवहार के वक्षपाती हैं। उन्नति उनकी दृष्टि से

भौतिक व आत्मिक दोनों प्रकार की है। (हाँ, कवि पन्त के 'सांस्कृतिक आन्दोलन' से यह भिन्न है)। 'अनन्य' "न तन सेवा न मन सेवा", मुझे है इष्ट पर सेवा" का उदाहरण प्रस्तुत करता है तो 'वक संहार' का ब्राह्मण परिवार पारस्परिक सम्बन्ध की व्याख्या करता है। 'साकेत' के नागरिक भी "एक तरु के विविध सुमनों में खिले हुए हैं। इसलिए भी वे भारतीय त्याग, दया, सहिष्णुता आदि भावों पर जोर देते हैं कि इनसे मनुष्य के अन्तः सगठन में सहायता मिलती है।

६—कर्तव्य भाव का उल्लेख—केवल अधिकारों पर ध्यान रखने कर्तव्य पक्ष छूट जाता है अतः जीवन में असंतुलन होने लगता है। स्वत्वों के लिए लड़ना भी धर्म है। कौरव-पाण्डवों के युद्ध का मूल कारण यही था—

“अधिकार खोकर बैठ रहना यह महा दुष्कर्म है
न्यायार्थ अपने बन्धु को भी दण्ड देना धर्म है
इस तत्व पर ही कौरवों से पाण्डवों का रण हुआ !”
जो भव्य भारतवर्ष के कल्पान्त का कारण हुआ !”

कर्तव्य पथ पर दृढ़ रहने से निरन्तर सफलता मिलती है। साथ ही बड़ों प्रज्जों का, गुरु शिष्य का, पति पत्नी का, मित्र मित्र का भी परस्पर एक दूसरे के प्रति कर्तव्य होते हैं, जिनका पालन होना ही चाहिए। गुप्तजी मर्यादा के समर्थक हैं, विश्वखलजा न तो वैयक्तिक क्षेत्र में। पंचवटी का लक्ष्मण रात्रि में भी कुटी का पहरा देता है, उर्मिला भी प्रेम-पथ का विघ्न नहीं बनना चाहती। यशोधरा को यह परिताप है—

“सिद्धि हेतु स्वामी गए, यह गौरव की बात
पर चोरी चोरी गए, यही बड़ा व्याघात !”

गुप्तजी की रचनाओं में अधिकांश संख्या जीवन में सक्रिय पात्रों की है तो बुद्धि की अज्ञेता हृदय की वृत्तियों से अधिक परिचालित होते हैं क्योंकि वे कर्तव्य भावना के प्रति सदैव जागरूक हैं। उनका कोई भी पात्र प्रतिक्रियावादी, स्वप्न देखनेवाला या मद में भ्रमने वाला नहीं मिलता।

—शासन का स्वरूप— चूँकि गुप्तजी की प्रायः सभी रचनाएँ भारत की पराधीन स्थिति में लिखी गई हैं। उनमें दासता, रूढ़ियो, आडम्बरो को नष्ट-भ्रष्ट करने की प्रेरणा भी है। राजा प्रजा के सम्बन्ध का, कर्तव्य अधिकार का उन्होंने तुलसी की तरह विवेचन किया है। राष्ट्रीय भावना के पल्लवित होने स्वतन्त्रता आवश्यक उपादान है। प्रजातन्त्र में उनका विश्वास मालूम नहीं पड़ता।

मैं तो चाहता हूँ एक राज्य, एक चक्र ही !” (‘सिद्धराज’)

मानव लोक स्वयं अपना कल्याण कर सकता है। राजा की स्थिति समझाई है।

“राजा प्रजा का पात्र है, यह लोक प्रतिनिधि मात्र है
यदि वह प्रजा पालक नहीं तो त्याज्य है
हम दूसरा राजा चुनें, जो सब तरह सबकी सुने
कारण प्रजा का ही असल में राज्य है !”

वैसे परिस्थिति के अनुकूल कही एकतन्त्र होता है, कही गणतन्त्र—“जो भी जहाँ ठीक हो” ‘सिद्धराज’ में कवि ने सघ शक्ति को प्रधानता दी है—

हाय, ! योग क्षेम भी कहें
लुण्ठक विदेशियों, विजातियों के रहते ?
व्यक्तिगत कोई रहे चाहे जितना बड़ा
संघ में ही शक्ति, गति वही एक सबकी !”

इस राष्ट्रीय जागरण में उन्होंने भारतेन्दु की तरह ब्रिटिश शासन का उपकार स्वीकार किया है—

“है ब्रिटिश शासन की कृपा ही यह कि हम कुछ जग गए
स्वाधीन हैं हम धर्म में सब भय हमारे भग गये...!”

उन्होंने प्रत्येक रचना के अन्त में यही शुभकामना प्रकट की है, यही अपने राम से माँगा है—

“यह आर्य भूमि सचेत हो फिर आर्य भूमि अहा”—और
“आर्य भूमि अंत में रहेगी आर्य भूमि ही

आकर मिलेंगी यहीं संस्कृतियों सब की
होगा एक विश्व तीर्थ भारत ही भूमि का !”

व्यक्ति का देश के लिए यह उत्सर्ग, आवाहन और जीवन पर्यन्त साधना गुप्तजी को राष्ट्र कवि के आसन पर निस्सकोच बैठा देती है। तुलसी ने अपने समय आर्य मर्यादा की गाथा गाई, अंग्रेजी कवि टैनीसन ने छोटी सी लड़ाई पर ‘The charge of the Light Brigade’ कविता लिख कर अपने जातीय उद्गार व्यक्त किए और गुप्तजी पिछले पचास वर्षों से भारतीय जनसमूह को राष्ट्रीय भावों से अनुप्राणित करते रहे हैं।

अध्याय ६

नारी चित्रण

प्रो० धमेन्द्र का कहना है गुप्त जी ने नारी पात्रों के प्रति पक्षपात किया है। मुझे तो वे सूरदास की भोति नारी स्वभाव के विशेषज्ञ तथा मनोविज्ञान के परिष्ठित मालूम पड़ते हैं। करुण भावना को व्यापक रूप में देखने वाला कवि उनका चलता हुआ वर्णन कर भी कैसे सकता था ?

एक समान तथ्य प्रत्येक श्रेष्ठ कवि के साहित्य में मिलता ही है—नारी की प्रधानता। वह चाहे कालिदास हो या शेक्स पीयर, बाल्मीकि हो या तुलसी, मिल्टन हो या गेटे तथा और कोई ह उसकी रचनाओं में नारी का महत्वपूर्ण स्थान मिलेगा। न्यूमैन का तो यहाँ तक कहना है—

“If thy soul is to go into higher spiritual blessedness, it must become a woman ..”

वस्तुतः नारी ही मूल प्रेरक शक्ति है, इसलिए पुरुष की अपेक्षा उसका स्थान ऊँचा हो जाता है। गुप्त जी ने नारी को पुरुष के विकास में निरंतर सहायक माना है। पत की तरह “देवि, माँ, सहचरी, प्राण” उसके अनेक रूप हैं।

एक कारण यह भी है कि काव्य की उपेक्षताओं पर उनका निरंतर ध्यान रहा। हिन्दी काव्य की विशाल परम्परा में वीर गाथा काल से लेकर १९ वीं सदी तक नारी का उच्च, अनुकरणीय रूप सामने आया नहीं। विद्यापति वयः संधि, दूतिकाभिसार में ही लगे रहे, नारी का रति क्रोड़ा रूप प्रधान रहा। चारण कवियों ने आश्रय दाताओं की मधुर भावनाओं को जगाने के लिए, उनका प्रणयन किया “कुटिल केस सुदेस पौद परिचियत पिवक सद” का वर्णन हुआ। निम्नोष्णी सती की

हठयोग साधना में नारी प्रधान न रह सकी, तुलसी ने कामिनी रूप में खूबडन किया लेकिन पार्वती, कौशल्या, सीता, आदि पात्रों द्वारा वे नारी महत्व का संकेत मात्र कर सके। महाकाव्य की सीमाएँ भी थी। सूर की गोपियाँ दार्शनिक पक्ष में “पुष्ट जीव” का प्रतीक बनाई गई, जिनके लिए मर्यादा त्याग विधेय ठहराया गया। रीति काव्य में नारी का विकास रूप निम्नरूप, कवि ताक भौँक में लगे रहे। जहाँ जहाँ सुन्दरी स्पर्श करती थी, त्रिवेणी की तरह वे स्थल पवित्र हो जाते थे। देव ने परनारी संयोग को योग से भी कठिन ठहराया था।

सामाजिक क्षेत्र में, परिवार में नारी का कोई महत्व नहीं। न शिक्षा, न अधिकार, आडम्बर, कुरीतियों जड़ संस्कारों में उसकी हुई। जिनका जीवन जीवन ही नहीं और कहाँ वैदिक कालीन नारियों या राजगूत युग की शौर्य प्रधानता। गुप्त जी ने इस प्रवृत्ति को अच्छी तरह समझा और अपने काव्य में नारी को जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में अपने पावों के बल खड़ा कर दिया जो पुरुषों के बराबर कदम बढ़ा कर चल सके, स्वतन्त्र अस्तित्व रख कर भी स्फूर्ति दायक है। इस कल्पना को मूर्तिमान करने में भारत की प्राचीन नारियों से गुप्त जी को प्रेरणा मिली।

“गुप्त जी ने स्त्रियों में भारतीय आदर्श के ढाँचे में दिव्यता भरने की चेष्टा की है। स्त्रियों का जो भारतीय आदर्श दीर्घ कालीन परंपरा युक्ति के कारण अनुदार और रुखा सा दीखने लगा था और क्रांति के स्फूर्तिगो को विस्फोटन के लिए प्रेरित कर रहा था, उसी का नए भावुक तर्क से सजाकर नई आत्मा से अभिसिंचित कर दिया है।” १

नारी आधिभौतिक पक्ष में “रति” का प्रतिरूप है ‘कम’ और ‘रति’ मूल में है, वह विश्व की मधुर कल्पना है। भारतीय परम्परा में पुरुष की अनिवार्य आवश्यकता के रूप में प्रकट हुई है। साथ ही बौद्धिक, माध्यमिक क्षेत्र में भी वह उच्च है। हृदय की विशालता, सहानुभूति उसके अभूषण रहे हैं। मनुष्य नारी का उपकार नहीं भूल सकता। गुप्त जी भी इसे मानते हैं—

“ दीन न हों, गोपे सुनो हीन नहीं नारी कभी

भूत दया मूर्ति वह मन से शरीर से

गुप्तजी की काव्य-बला और राज्ञेय

खीण हुआ धन में, लुधा से मैं विशेष जय
मुझको बचाया मातृ जाति ने ही खीर से
आया जब मार मुझे मारने की बार बार
अपसरा अनीकिनी सजाए हमें हों रे...
तुम तो यहाँ थी धीर ध्यान ही तुम्हारा वहाँ
जूझा मुझे पीछे कर पंचशार वीर से ! ”

गुप्त जी के जितने भी काव्य हैं, इसी उपयोगिता के कारण नारी उसमें सदैव उज्ज्वल रूप में मिलती है। पहली रचना ‘रग मे भंग’ ही नवयूग को त्याग, वीरत्व भावनाओं से समन्वित करती है। ‘जयद्रथ बध’ की उत्तरा पहले क्षत्राणी रूप में अभिमन्यु को युद्ध के लिए प्रेरित करती है, उसकी मृत्यु पर मर्मभेदी विलाप करती है। ‘शकुन्तला’ में नारी सम्मान दृष्टि गोचर होता है जो धीरे धीरे प्रौढ़ होकर व्यापक होता गया है। ‘पंचवटी’ में सीता, शूर्पणखा का व्यक्तित्व है—

“ तो क्या अबलाएं सदैव ही अबलाएं हैं बेचारी
नहीं जानते तुम कि देख कर निष्फल अपना प्रेमाचा
होती है अबलाएं कितनी अबलाएं अपमान विचार ! ”

‘सैरन्ध्री’ में नारी असहाय होकर भी आत्म-सम्मान नहीं खोती, उसे धर्म द्वारा रक्षित होने का विश्वास रहता है। ‘वक संहार’ में कुन्ती का चित्र है, तो ‘द्वापर’ में यशोदा, कुब्जा, गोपिकाओं का हृदय खोला गया है। राधा को “सुख की सगिनी” मान रहने का खेद है तो कही वह अविश्वासी पुरुष को जन्म भी देती है। विधुता को मृत्यु ही एक मार्ग दिखाई पड़ता है—

“ इस अन्याय समक्ष मल्ल मैं
कभी नहीं झुक सकती
किन्तु आर्य नारी ! तेरा है
केवल एक ठिकाना
बल तू वहीं, जहाँ जाकर फिर
नहीं लौट कर आना.....”

अहाँ तक यशोधरा का प्रश्न है, वह तो पूर्ण निश्चय कर चुकी है उसका प्रेय

अच्छुण्ण है तो प्रिय कभी न कभी आयेंगे-आना पड़ेगा । यह प्रेम का जोर है—

“ उन्हें समर्पित कर दिये यदि मैंने सब काम
तो आवेंगे एक दिन निश्चय मेरे राम —”

प्रसाद का भी विश्वास था —

“ इस शिथिल आह से खिंचकर
तुम आआगे आओगे
इस बढ़ी व्यथा को मेरी
रो रो कर अपनाओगे ! ”

उसका विरह, पत्नी रूप, मातृत्व, स्वाभिमान सभी कुछ अपूर्व है । जीवन के इन द्विविध रूपों का चित्रण गुप्त जी की कुशलता है । पति से उसका संबंध अटूट है । दूर होना तो शारीरिक है—

“ चाहे तुम संबंध न मानो
स्वामी किन्तु न टूटेंगे ये
तुम कितना ही तानो
पहले तुम हो यशोधरा के
पीछे होंगे किसी परा के
मिथ्या भय हैं जन्म जरा के
इन्हें न उनमें सानो.....”

‘साकेत’ में सीता, उर्मिला, कौशल्या, सुमित्रा, का तो उज्ज्वल पक्ष वर्णित है ही, युगों से उपेक्षित कैकेयी को भी उठा दिया है सारा दोष दासी मथरा के सिर भी नहीं, परिस्थिति का है वह अपने पर स्वयं अधिकार खो बैठी । यह विशेषता उसे सहानुभूति का पात्र बना देती है क्योंकि मनुष्य में गुण भी होते हैं, दोष भी ।

उर्मिला-सीता का स्थिति वैषम्य दो पंक्तियों में व्यक्त कर दिया है--

“ सीता ने अपना भाग लिया
पर इसने वह भी त्याग दिया ! ”

उर्मिला ने वियोग में इतने आँसू बहाए हैं कि गांधी जी को उत्तर देते हुए गुप्त जी ने एक पत्र में लिखा है—“वह तो आपके लिए बकरी का दूध भी लाना चाहती है परन्तु डरती है कि उसमें कभी पानी मिला देख कर आप यह न कहें कि छोड़ा मैंने बकरी का दूध भी ! पानी, हाँ आँग्यों का पानी । बहुत रोकने पर भी एक आध बार वह टपक पड़ा तो बापू दूध से भी गए ! फिर चाहे उनके हाथ-पैरों में श्रुति का संचार ही क्यों न होने लगे ।”

‘सिद्धराज’ में राजमाता मीलनदे तपस्विनी सी शोभित है—

“ शांत कांत रूप, मुख प्रौढ़ पक्व बुद्धि से
दीप्त, यथा दीप, सौम्य नासा शिखा रुपिणी
सन्ध्योपासना में प्रभु और निज पति का
करती है ध्यान सदा वह शरणागता.....”

उसने जयसिंह को यथोचित शिक्षा दी, तो दूसरी स्त्री का गौरव है क्षत्राणी होना जो पुत्र को जन्मने के लिए ही उत्पन्न करती है । तो वही राजकर के संबन्ध में जनहित की भावना से प्रेरित है—

“ मंदिर का द्वार जो खुलेंगा सब के लिए
होगी तभी मेरी वहाँ विश्वंभर भावना ! ”

तां ‘रानकदे’ पति मृत्यु पर उत्तरा से भी अधिक सतप्त है । उत्तरा कम से कम प्राणेश शव के निकट “दा नाथ” कहती हुई रोई तो भी, रानकदे का विषाद और बढ़ गया है—होश ही खो बैठी है—

“ रानकदे आप न थी मानो इस लोक में
मानो एक मौन, मूर्ति मंदिर में बैठी थी
हाकर तटस्थ शोक और हर्ष दोनों से
व्यर्थ परिचारिकाएं करतीं प्रतीक्षा थीं
वह इस जन्म की समाधि लिए बैठी थी ! ”

वही रानकदे जयसिंह के मर्यादा विरुद्ध, प्रस्ताव पर भड़क उठती है, ग्रीवा ऊँची हुई, पलकें खोली—

“ फड़के अधर वह बोली अनिच्छा से ही
मेरा राज सिंहासन जलती चिता में ही
वीर गति भोगी एकमात्र मेरे स्वामी ही
बैठ सकते हैं वहाँ ऊँचा सिर करके
मुग्ध जयसिंह तुम जीते जी जलोगे क्यों ?...”

वह उसके मुँह से प्रेम जैसे पावन शब्द का उच्चारण भी नहीं सुनना चाहती ।

‘काचनदे’ जैसे नारी पात्र भी हैं जो साय-प्रातः पर्यटन करने निकलती थी, क्षुद्र सेवको से भी कुशल मंगल पूछ आती थी—यह सहानुभूति की व्यापकता सूचित करता है ।

‘नहुष’ की इन्द्राणी पद और प्रेम के द्वन्द्व अपना कर्तव्य कुछ देर के लिए निश्चित नहीं कर पाती । गुण कर्म अर्पण कर देने पर भी क्या नारी अपना धर्म भी नहीं बचा सकती ? लेकिन उसको भी बुद्धि तुरन्त मार्ग निकाल लेती है ।

मुक्तक काव्यों में भी जहाँ प्रसंग आया है गुप्त जी ने नारी चित्रण में अधिक रचि ली है

‘भारत भारती’ में पहले आर्य नारियों का वर्णन है जो दाम्पत्य जीवन में स्वर्ग मुख का विधान करती थी, पतियों के जीवन में भाग लेती थी, सुमित्रा, विदुला, हृती जैसी माताएँ रहीं । सेवा परोपकार में सावित्री, सुकन्या, अंशुमती, ग्राहस्थ हन में अत्रि, अनुगूया, और दमयन्ती, गाधारी जैसी प्रति परायण नारियाँ हुईं ।

अबला जनो का आत्म बल

संसार में था वह नया

चाहा उन्होंने तो अधिक क्या

रवि उदय भी रुक गया

जिस क्षुब्ध मुनि की दृष्टि से

जल कर बिहग भू पर गिरा

वह भी सती के तेज सम्मुख
रह गया निष्प्रभ निरा

वर्तमान स्थिति कैसी है ? कृपक नारियों कोल्हू के बैल की तरह काम करते हैं लेकिन भरपेट अन्न नहीं प्राप्त होता । आज नारी कलह कुराल है, जहाँ दो रही कि वाग्वाण वरसे ! गन्दे गीत गाती है, कुछ शील, लज्जा का कोई ध्यान नहीं पति से अधिक आभूषणों का ध्यान है । उनकी इस शोचनीय स्थिति का उत्तरदायित्व गुप्त जी ने पुरुष पर रखा है—

“ क्या दोष उनका, किन्तु जो
उनमें गुणों की हैं कमी
हा, क्या करें वे जब कि उनको
मूर्ख रखते हैं हमी ! ”

समाज में भी नारी की स्थिति गिरी हुई है । विधवा वृन्द की संख्या बढ़ती है फिर भी बाल विवाह, वृद्ध विवाह होते जा रहे हैं । कन्या विक्रय तक होने लगा है ! इसलिए असतोष, समृद्धि दूर होती जा रही है ।

“ ऐसी उपेक्षा नारियों की जब स्वयं हम कर रहे
अपना किया अपराध उनके शीश पर है भर रहे
भागें न क्यों हमसे भला फिर दूर सारी भिद्धियाँ
पातो स्त्रियों आदर जहाँ रहती वहीं सब ऋद्धियाँ ! ”

‘स्वदेश सगीत’ में भारत को ही नारी रूप दे दिया गया है जो सब देशों की स्वयं सिद्ध रानी है ।

‘मगल घट’ में ‘द्रोपदी दुकूल’ कविता उल्लेखनीय है । दुःशासन द्वारा चीर खींचने पर उसे सर्व शक्तिमान कृष्ण का ही ध्यान आया । ‘केशो की कथा’ में वह तीव्र प्रतिहिंसा की ज्वाला से उदीप्त रूप में प्रकट होती है, सधि का स्पष्ट विरोध करती है ।

‘पद्मावली’ में जोधपुर की महारानी दो भावों से अशांत है । उसे अपने व्यक्तित्व का गौरव, बीरता पर भी है और कायर पति के संबन्ध से विषाद भी ।

‘तिलोत्तमा’ में इन्द्राणी का दुःख सौंदर्य दोनों प्रस्फुटित हुए हैं। ‘अनघ’ में माता तो अपने व्रत पर अटल रहने का संदेश देती है, सुरभि प्रणय-पथ को ही जीवन का एकमात्र लक्ष्य मानती है, अपने रोदन को भी गीत बनाता चाहती है—

“ विश्व वेदना विकल करे मुझको सदा
रक्खे सजग सजीव आर्ति या आपदा
मेरा रोदन एक गूँजता गीत हो
जीवन ज्वलित कृशानु समान पुनीत हो ।”

अनुवादों में ‘वरहिणी व्रजागना’ और ‘स्वप्न वामबद्धता’ गुप्त जी के भारतीय दृष्टिकोण को ही स्पष्ट करती हैं।

नारी पात्रों की इन अनेकरूपता में विविधता भी मिलती है और एकता भी। जहाँ तक स्वभाव का प्रश्न है सभी नारी पात्रों का विश्लेषण एक सा है। जिनके हम तीन प्रधान वर्ग बना सकते हैं—

१. मातृ रूप—मीलनदे, कुन्ती, आदि
२. प्रेमिका रूप—उर्मिला, यशोधरा, आदि
३. सामान्य—इन्द्राणी, आदि

रचनाओं में नारी पात्रों की संख्या ही अधिक नहीं है वरिष्क मैथिलीशरण गुप्त को उर्दी के चित्रण में अधिक सफलता भी मिली है। “उन्हें मानव समाज के वर्ग विशेष से विशेष सहानुभूति है विशेष प्रेम है। उसी के दैन्य ने उनके हृदय में कष्टों का संचार करके उनकी काव्यकला की सेवाओं का नियोजन किया है।” १

“उन्होंने विविध रूप अंकित किए हैं उनकी व्याख्या की है, उनकी शक्ति का निर्देश किया है। उनकी अनुभूति असंतुष्ट हो उर्मिला और यशोधरा के साथ सीता, माण्डवी, श्रुति कीर्ति, कौशल्या, सुमित्रा, देवकी और कैकेयी आदि की मूर्तियाँ गढ़कर अपने संतोष में लगी हैं.....स्त्रियों के चरित्र को चित्रों की व्यवस्था द्वारा

गुप्त जी ने बहुत कुछ अभिव्यक्त किया है उनमें जीवन का अमर सदेश है।” २
नारी चित्रण संबन्धी गुप्त जी की विशेषतायें इस प्रकार हैं—

१. नारी का आदर्श रूप:—चूँकि गुप्त नारी को मुख्य शक्ति के रूप में देखते हैं, उनका चित्रण भी आदर्श मूलक करने हैं जो दूसरों के लिए उदाहरणीय बन सके। नैन नचाने वाली या ब्लांते पड़ने के डर से गुलाबी भँवा का प्रयोग करने वाला स्वरूप यहाँ नहीं मिलेगा। विरह की चरम अनुभूति होती है जरूर है लेकिन एक तो वह पलंग पर करवटे बदलने वाला वियोग नहीं, दूसरे विहारी की नायिका की तरह “इत आवत चलि जाति उत” की दशा भी नहीं है। रीति काव्य में व्याप्त रीति थिलास प्रस्त नारी को ठठा कर साधन, तपस्या के उच्चासन पर बिठा देना उनकी विशेषता है। हाव भोंवो की, भूमगिमा की, केश कलापो की चंचलता यहाँ नहीं मिलेगी बल्कि एक सोया हुआ पौरुष, वोरत्व और पत्थर को लकीर जैसा दृश्य मिलेगा। गुप्त जी ने रीति काव्य की सड़ी गली सकुचित गलियों में भटकती हुई नारी को पुनः भारतीय गौरव से मंडित कर दिया वे क्या नहीं कर सकती ? किम क्षेत्र में पीछे रही ?—

“क्या कर नहीं सकतीं भला यदि शिक्षिता हों नारियाँ
रण रंग, राज्य, सुधर्मरक्षा, कर चुकीं सुकुमारियाँ
लक्ष्मी, अहिल्या, बामजावार्ड, भवानी, पद्मिनी
एक्षी अनेकों देवियां है आज जा सकतीं गिनी !
सोचो नरों से नारियाँ किम बात में हैं कम हुईं ?
मध्यस्थ वे शास्त्रार्च में हैं भारती के सम हुईं
हैं धन्य थेरी तुल्य गाथा—कर्तियाँ वे सर्वथा
कवि हों चुकी हैं विष्का, विजया, मधुरवाणी यथा ”

बहा तक कि स्वयं राम ‘साकेत’ में उर्मिला की प्रशंसा को—

“तूने तो सहधर्मचारिणी के भी ऊपर
धर्म स्थापना किया भाग्यशालिनी इस भू पर !”
त्याग, अनुराग, स्वाभिमान की वे सजीव मूर्तियाँ हैं।

२. 'हृदय पक्ष की प्रधानता':—गुप्त जाँ के नारो पात्रो में हृदय की भावनाएँ अधिक व्यक्त हुई हैं। वे पुन्य की तरह बुद्धि प्रधान नहीं इसलिए छत्र कपट, द्वेष, ईर्ष्या के दुर्गुणों से दूर हैं। प्रेम, दया, करुण, सशक्तुति अधिक मिलती है। पति के मार्ग में बाधक स्वरूप कोई नहीं बनना चाहती। मानव्य की व्यापक भावना देखिए:—

मेरे तो एक अधीर हृदय है बेटा
जिसने फिर तुमको आज भुजा भर भेटा.....

प्रेम की कई कंठियाँ (Degrees) होती हैं। इनमें मिल जाएँगी।
राकड़े इसकी व्याख्या करती हैं—

“चुप चुप कामो चुप ! नाम न लो प्रेम का...
प्रेमी तो पराजय भी भोगना है जय सी
सच्चा योग उसका वियोग में ही, होता है।
मर के जिलाता वह, जीता नहीं मार के
मेरा यह जन्म पूरा हो चुका है अब का
अब कहने को और सुनने को क्या मुझे ?
जाना चाहती थी मैं यहाँ चुपचाप ही
किन्तु देखतो हूँ लोक यों ही किसी जन को
देता नहीं निष्कृति, कहे बिना सुने बिना
देखता है कौन मन ? चाहिए वचन ही।”

प्रेम की कसौटी है विरह, इसलिए उर्मिला, यशोधरा दो में ही उसमें तप कर स्वर्ण सी चमक उठी है। यहाँ यशोधरा को यह सोच है सिद्धार्थ उसे परल नहीं पाए। उसके मन में गौरव जाग उठता है, उसकी कामना “सुख मुहाग की लाली” चाहती है। उसका एक मात्र धन पति है। इसी कारण उत्तरा ने अभिमन्यु से कहा था—

“है उत्तरा के धन रहो तुम उत्तरा के पास ही !” नारो हृदय का विषमता

है विस्मृण। उर्मिजा को यही ज्ञान नहीं बड़ सोयी है, या जागती ! यशोधरा तो रने का अधिकार भी पति से हाँ माँगती है। प्रकृति उनकी भावनाओं पर और पान चढ़ा देती है। चातक की पी पी रट उसके हृदय में काटे सी खटकने लगती है।

‘फलों के बोज़ फलों में फिर आये
मेरे दिन फिर न हाय
गए धन कै कै बार न फिर आये ?
वे निर्भर भरे न हाय
मे भी थी सखि अपने
मानस थी राज हर्सिनी रानी
सपने को सी बातें !”

बड़ नारी जीवन में संतोष पाकर भी पौत्र कामना से व्यक्ति है।

“बेटा चिर शांति ! अब इच्छा यही मेरी है
फिर भी मनुष्य मन हाय ! तन रहते
तुष्ट नहीं ! कभी, लोग जाते जाते भी
और कुछ देख जाना चाहते हैं जग में
मुँदती हुई भी खुली आँखें रह जाती हैं !
तुझ सा सपूत पाया और मुझे पाना क्या
किन्तु पुत्र पाकर पौत्र यहाँ चाहिए
दाता है विधाता, शुभ उसका विधान है !”

विशेषता यह है कि अगला जीवन बिताती हुई ये नारियाँ अक्सर पड़ने पर घोर सबला हो जाती हैं। उनका स्वभाव चरम सीमा पर जाने का होता। निरंतर आँसू बहाने वाली घोर से घोर कष्ट सह झँती है द्रौपदी तो बाल खोलकर भीमसेन को प्रतिशोध भावना से उदीप्त कर देती है। जितनी गहराई प्रेम में है उतना ही उठाव मान में है। रौद्र रूप ‘साकेत’ में देखिए

मानिनी कैकेय का को।

बुद्धि का करने लगा बिलोप

एड़ियों तक आ छूटे केश
हुआ देवी का दुर्गा वेष...

हँसी है वह या आसि की धार ?
भूमि पर पटक पटक कर पैर
लगी प्रकटित करने निज वेंर
अन्त में सारे अंग समेट
गई वह वहीं भूमि पर लेट
छोड़ती था जब तक हुँकार
चुंटीली फणिनी सी फुंकार...

न मानो पाकर धाज शिकार
सिंहिनी सोती थी सविकार
पड़ो थी बिजली सी विकराल
लपेटे थे घन जैसे बाल
कौन छेड़े ये काले सांप ?
अवनि पति उठे अचानक कांप !”

प्रो० धर्मन्द्र ने ठीक ही लिखा है—गुप्त जी के कवि ससार की प्रायः सभी नारियों का अवतरण तो अवला के रूप में होता है किन्तु पुरुषों के तिरस्कार की चोट खाकर बही अवला प्रवला में परिवर्तित हो जाती है।”

वात्सल्य भाव की प्रधानता नारियों में है। प्रेमिका का मातृत्व रूप प्रधान रहने से यह गुण माया है। अपने पति का ध्यान करती हुई मीलनदे सिद्धराज के लिए कामना करती है—

“छोड़ा तीन वर्ष का था नाथ जिसे तुमने...
रोता रहा मरा मृदु माँ का मन, फिर भी
मैंने दृढ़ होकर दिलाई उसे शिक्षा है
दे जो सकती थी एक नारी, कुल दीक्षा दी
स्वर्ग से हैं स्वामी, तुम आशीर्वाद दो उसे...”

तो यशोधर भी राहुल के प्रति अपने कर्तव्य की उपेक्षा नहीं करती। उसके रोने पर कभी खीझती है, फिर गोद में उठा लेती है। कहीं डिटौना लगाती हैं फिर कथाएँ सुना कर उसका मन बहलाती है। रात में पुत्र ही एक सहारा है—

“ठहर बाल गोपाल कन्हैया

राहुल, राजा भैया ?

कैसे धाँऊ, पाँऊ, तुमको हार गई मैं देया

सद्य दूध प्रसूत है बेटा, दुग्ध फेन सी शैया

तू ही एक खिचैया मेरी पड़ी भबर में नैया

आ, मेरी गोदी में राजा, मैं हूँ दुखिया भैया ।”

३-अन्तर्द्वन्द्व की प्रधानता—नारी में हमेशा तर्क बुद्धि प्रधान होती है। भाव प्रवण होने से अतः संघर्ष स्वभाविक है। उनके जीवन में बाहर की हलचल नहीं है। नारी का बाह्य पक्ष गंभीर और समुद्र सा शांत है लेकिन भोतर की थाह कोंद नहीं पा सकता, उसकी हलचल समझना कठिन है। बीसवीं सदी की हिन्दी कविता में इस क्षेत्र में या तो जयशंकर प्रसाद सफल रहे हैं या गुप्त जी। उसकी एक एक मनोवृत्ति कैमरा के सत्य की तरह सामने रख दिया है। यह अन्तर्द्वन्द्व एकांत में भी प्रस्फुटित हुआ है, सखियों से वार्तालाप करते समय भी। नारी जिस तथ्य को छिपाना चाहती है, छिपा भी लेती है। प्रत्येक चरित्र का वह गुण दोष परीक्षण करती रहती है। इस तुलनात्मक दृष्टि का उदाहरण रागकंद और सिद्धराज के वार्तालाप में देखा जा सकता है। कहीं प्रेम कर्तव्य की समस्या है, कहीं संयोग-वियोग की। कहीं स्वधर्म रक्षा का प्रश्न है। यशोधरा कभी वियोग को कोसती है, कभी प्रियतम के अविश्वास पर क्षुब्ध होती है। क्या वह इतनी स्वार्थिनी थी कि उन्हें रोक लेती ? फिर अपने मन को समझाती है कि आर्यपुत्र के उपरान्त उसकी परीक्षा है। उसके स्वप्न भी जागरण बन जाते हैं। वह प्रकृति में भी अपने भावों का ही प्रतिरूप देखती है—

“माना, ये खिलते फूल सभी झड़ते हैं

जाना, यह दाढ़िम, आम सभी सड़ते हैं

पर क्या यों ही यह कभी टूट पड़ते हैं ?
या कांटे ही चिरकातु हमें गढ़ते हैं
मैं विफल तभी, बोज रहित हो जाऊँ
कह मुक्ति भला, किसलिए तुझे मैं पाऊँ ?”

अंत में उसका अतर्द्वन्द्व प्रिय सुख का आधार बन जाता है।

इसका सर्वोत्तम उदाहरण है उर्मिला। राम सीता का बन जाना निश्चित होगया। लक्ष्मण को भ्रातृ-भक्ति का निर्वाह करना ही था। उर्मिला के मन में संघर्ष होता है इनसे क्या कहें ? मैं क्या करूँ ? चलूँ कि रहूँ ? इसी निश्चय अनिश्चय में नारी का हृदय पल्लवित होता है। और कवि की पूर्णता भी इसी में है वह पात्र के मन में उतर कर उसके अनुरूप भाव का अनुभव कर सके। वह भी जाए तो सभवतः पति को, रामसीता को वाया हो ! अंत में उसने कर्तव्य निश्चित कर ही लिया—

‘कहा उर्मिला ने हे—मन
तू प्रिय पथ का विघ्न न बन !
आज स्वार्थ है त्याग भरा
है अनुराग विराग भरा !
तू विकार से पूर्ण न हो
शोक भार से चूर्ण न हो !...”

विरह में वह स्वयं आरती बन गई है। कभी प्रिय आगमन की अनुभूति होती है। कभी स्वप्न जैसा टूटने पर चौक उठती है। शेक्सपीयर की Lady Yack beths की तरह जो रात में उठ कर मोमबत्ती जलाती हुई घूमती है। *All the perfume of Arabia shall not sweeten this hand.*” उसकी कृपा दशा का द्योतक एक ही पद व्यष्ट है—

“शिशिर न फिर गिरि बन में
जितना मांगे पतझड़ दूंगी मैं इस निज नन्दन में

कितना कंपन तुझे चाहिये ले मेरे इस तन में
 सखी कह रही पांडुरता का क्या अभाव आनन में ?
 वीर, जमा दे नयन नीर यदि तू मानस भाजन में
 तो मोती सा मैं अकिंचना रखूँ उसको मन में !
 हँसो गई रीभी न सकूँ मैं—अपने इस जीवन में
 तो बत्कण्ठा है, देखूँ फिर क्या हो भाव भुवन में !”

४-मनोवैज्ञानिकता—गुप्त जी ने उपेक्षित नारियो को तो अपने काव्य में अमर किया ही, उनका स्तर भी उठा दिया। भाव परिवर्तन जहां भी हुआ है उसका मानवीय आधार दिया गया है। मंथरा, कैकयी आदि पात्र इसके अन्तर्गत हैं। राम को कौशल्या से भी अधिक प्यार करने वाली कैकयी आखिर क्यों इतनी निष्ठुर बन गई ? सिर झुका कर चलने वाली द्रोपदी क्यों छाती तान कर खड़ी हो गई ? यह दोष व्यक्ति विशेष का नहीं, मानव स्वभाव का है जो न तो विष्कुल स्वेत होता है, न श्याम। गुण अवगुण, पूर्णता न्यूनता सब में होती हैं। अनुकूल वातावरण पाकर कभी एक पक्ष उभरता है, कभी दूसरा। इसलिए प्राण प्रिय यदि शत्रु भी बन जाय तो आश्चर्य जनक नहीं। यह विश्लेषण हम गुप्त जी के नारी चित्रण में पाते हैं। कारण भी उन्होंने दिया है—

“क्या कर सकती थी मरी मंथरा दासी
 मेरा ही मन रह सका न निज विश्वासी
 जल पंजर गत अब अरे अधीर, अभागे
 वे ज्वलित भाव थे स्वयं मुझी मे जागे”

जब मनुष्य को अपनी त्रुटि का भाव होता है तो पश्चाताप की भावना होती है। कैकयी ने मन में द्वन्द्व चलता है क्या वात्सल्य का जीवन में कोई अधिकार नहीं। जिस को जो कहना है कहे लेकिन वह अपना मातृ पद बनाए रखना चाहती है—

“बस मैंने इसका बाह्य मात्र ही देखा
 हृदय न देखा मृदुल मात्र ही देखा

परमार्थ न देखा पूर्ण रबार्थ ही साधा
इस कारण ही तो हाय आज यह बाधा—”

इसी मानव मन के विश्लेषण से कैकेयी सामान्य धरातल से उठ कर हमारी सहानुभूति प्राप्त कर लेती है।

५—व्यवहार कुशलता—पारस्परिक सम्बन्धों को व्यक्त करने में, उच्च नीच से तदनुकूल व्यवहार करने में नारी पात्र सजग है। सूर की गोपियां जैसा शक चातुर्य तो नहीं है, स्थान व श्रवसर भी नहीं था, पर मौन, वे दीन-हीन नहीं है। नीलनदे प्रथम सर्ग में राज क्षत्रिणी से धार्मिक चर्चा करती है। जमसिंह रानकदे का मधुर वार्तालाप है—

“...तुम पर आप जयसिंह निष्ठावर हैं”

“मुझ पर”? आके लगी मूँठ सी गुलाल की
रानक कौ, बोली वह,—“मुझ पर? अथवा
मेरे रूप मात्र पर, जो मुझे लेजाता है?

भद्र काली कोइल भी भाग्यवती मुझसे
मुख नहीं कण्ठ देखते हैं लोग जिसका...

हाय! वीर, एक अवला से बल-याचना?”

“भद्र, नर भाग्य यही, पृच्छो स्वयं शिव से
शक्ति के बिना वे रवि मात्र रह जाएंगे!”

“तुम यदुवंशी, मेरे कुल का ठिकाना क्या?”

गोत्र रमणी का वही जाय वह जिसमें!...”

को प्रणाम करना चाहिये—

“सादर प्रणाम! भटकाका,” कहा बाला ने “जिसने “काकभट” का “भट काका” कर लिया।

‘सकैत’ की कौशल्या कहती हैं उसके मन में राम-भरत के लिए भेद नहीं है। मँभल्ली बहन राज्य ले-कोई हानि नहीं। किन्तु सुमित्रा का स्वभाव मित्र है। वह क्षत्रियाखी सिदनी के समान है, गरज उठती है—

“स्वत्वों की भिन्ना कैसी ?

दूर रहे इच्छा ऐसी

उर में अपना रक्त बहे

आर्य भाव उद्दीप्त रहे

पाकर वंशोचित शिन्ना

मागेंगी हम क्यों भिन्ना ?

प्राप्य याचना वर्जित है

आप भुजों से अर्जित है

हम पर भाग नहीं लेंगी

अपना त्याग नहीं देंगी

वीर न अपना देते हैं

न वे और का लेते हैं

वीरों की जननी हम हैं

भिन्ना मृत्यु हमें राम हैं

राघव शांत रहोगे तुम ?

क्या अन्याय सहोगे तुम ?

मैं न सहूँगी, लक्ष्मण तू ?

नीरव क्यों है इस क्षण तू ?

६—जीवन में क्रियाशीलता—गुप्त जी के नारी चित्रण में कोई भी पात्र निष्क्रिय नहीं मिलेगा। धिरह भी है तो दो कोस का नहीं है। दैनिक कार्य न तो यशोधरा छोड़ती है, न उर्मिला। इस कारण उनका प्रेम कर्म क्षेत्र की विविधता में अभिव्यक्ति होता है। सीता भी वन में कभी पूज लगाती है, कभी पर्णकुटी बनाने में सहायक होती है और जीवन का आनन्द प्राप्त करती हैं। मधुर हास्य देखिए—

“

नारी भक्ति गद्गद

आँख पोंछ मानो साँस लेने लनी रुक के

मानस तरंगित था राज जननी का भी
किन्तु हँस बोली वह “गोकुल की गोपी सी
आई तुम खोजने को चित चोर अपना
किन्तु याद रखना यहाँ भी हैं सपत्नियाँ ।”

बच्ची दादी को बहला कर दवाई पिलाना चाहती है—

जो थी जयसिंह की कुमारी कुल कलिका
औषधि का रत पात्र देने चली दादी को
किन्तु ‘नहीं’ सुन हँस बोली—‘बड़ी मीठी है’
हँस पड़े लोग सब और स्वयं रोगिणी
“क्यों री ? यह पुरखा हुई तू कह कब से
बच्चों सा मुझे भी बहलाने जो है यों
बोल, तेरी दादी मैं कि दादी आप मेरी तू ?”

नारियों अतिथियों की कुश क्षेम पूछती है—“आप अच्छे हैं ?” पशु पक्षी
।क की सुध रखती हैं । भ्रमण में भी रुचि रखती हैं, गाँव भर की सेवा शुश्रूषा
करती हैं और सामाजिक कार्य न रहने पर घप के उद्यान को गोड़ सींचकर व्यायाम
।था काम करता है । ‘आल राउण्ड’ कहना चाहिए इन नारी पात्रों को । दुर्ग
।ी रक्षा करने में भी पीछे नहीं । कितना अव्य साक्षात् चित्र गुप्त जी ने उपस्थित
किया है—

अश्वनी के ऊपर सुभव्य भाव भरिणी
कृत्तिका सी वामियों के ऊपर चढ़ी हुई
वामाएँ अनेक, दीर्घ शूल लिए दाहिने
हाथ में लगाम धरे बाँए हाथ में कसे
क्षीण कटि जटित विचित्र कटि बंधों से
पीठ पर बाल छोड़े ढाल के से ढंग से
हेम शिरखाड़ा बाँधे मोतियों की कँलगी
जिन पर खेसती हैं स्वच्छ गुच्छ रूपिणी

कंचुक कवच सब एक ही से पहने
गहने हैं—वेदी, कर्णफूल, हार, किंकिणी
ककण करों में और नूपुर पदों में हैं
शौर्य वीर्य साहस की प्रतिमा सजीव सी
भंविर समान उस सुंदर शिविर की
करती हैं मण्डल बनाकर परिक्रमा !”

७. रूप सौंदर्य:—ये नारी पात्र रूप लावण्य में भी कम नहीं। आधुनिक साज सज्जा नहीं मिलेगी। इस जगत में भीतर का सौंदर्य मिलेगा, शरीर का कम आत्मा का अधिक। अरुण पट पहने उर्मिला खड़ी है। कवि सभावना करता है यह उषा ही तो मूर्तिमान नहीं हुई जो कात की किरणों का प्रकाश कर रही है? या ब्रह्मा ने स्वयं स्वर्ण प्रतिमा का निर्माण किया है।

“शाण पर सब अंग मानो चढ़ चुके
प्राण फिर उनमें पढ़ जब गढ़ चुके
भलकता आता अभी तारुण्य है
आ गुराई से मिला अरुण्य है
जोल कुण्डल मण्डलाकृत गोल है
घन पटल से केश कांत कपोल हैं
देखती है जब जिधर यह सुन्दरी
दमकती है दामिनी सी द्युति भरी !”

कवि की भाव प्रवण दृष्टि सीता माता की सुघड़ता पर भी गई है जो बछोटा मार कर कमर में अँचल खोस कर नवीन सज्जा में है। विशाल कच भार से एड़ियाँ धँसती है तो अरुण एड़ियों से सुहाग झड़ता है! प्रसाद ने इन्हीं चरणों को चूम लेने की आकांक्षा प्रकट की थी—

“आह चूम लूँ जिन चरणों को
चाँप चाँप कर उन्हें वहीं
दुख तो इतना, अरे अरुणिमा
ऊषा सी वह उधर कहीं !”

“गोल गोल गोरी बाहे” सदा से ही सौन्दर्य वृद्धि में सहायक रही हैं। गुप्त जी जब किसी काव्य में प्रधान नारी पात्र का स्थान निश्चित करते हैं तो आरम्भ में रूप सौन्दर्य भी चर्चा अवश्य करते हैं। रानकदे पल्लव में हेम नलिदी की तरह फूलती है, चारों ओर चर्चा है, अपने गीत गाने में इतनी तन्मय कि—

“पालित मयूर वहाँ आता और देखता—

वीणा छोड़ बाणी वृत्त रचना में लीन हैं ?”

तो कान्चनदे का प्रतिविम्ब ऐसा दिखाई देता है मानो चादी के सलिल में सोने की कमलिनी नत होकर अरुण को पुलक पाद्य दे रही हो। उसकी उथल पुथल देखिए:—

“जो संकोच घटता है परिचय होने से
हाय ! वही बढ़ता है मुझमें न जाने क्यों ?
नीचा मुख खावे दृष्टि ऊँचो का सन से
मैंने उन्हें देखा है, उन्होंने तो नहीं मुझे ?
रह रह कम्प रोम हर्ष हो रहा है क्यों ?
अनुभव होता है मुझे क्यों यह ताप का ? ”

वही नारी कभी पुरुष को बलपूर्वक आकृष्ट करने की चेष्टा करती है। शर्पणखा लक्ष्मण के प्रति खिचती हुई प्रेम की याचना करने लगती है:—

“ प्रेम पिपासु किसी कान्ता के

तपस्कूप यदि खनते ही

तो सचमुच ही तुम भोले हो

क्यों मन को यों हनते हो ?

अरे कौन है, धार न देगी

जो इस यौवन धन पर प्राण ?

खोओ इसे न यों ही हा, हा, !

करो यत्न से इसका चाण

किसी हेतु संसार भार सा
 देता हो यदि तुमको ग्लानि
 तो अब मेरे साथ उसे तुम
 एक और अवसर दो दानि !” ॥

बर्नार्ड शा ने भी नारी को मकड़ी जैसा माना है जो मनुष्य को अपने जाल में फँस कर मक्खी को तरह चूसती रहती है ।

८. करुणा की अन्तर्धारा:—इतना होने पर भी नारी जीवन में करुणा की अन्तर्धारा मिलती है । किसी पात्र में तीव्र हो गई है, किसी में बीच बीच में परलक्षित होती है । सुखी, शांत जीवन व्यतीत करने वाली नारियों में भी करुणा-क्षण आए हैं और सुख में भी खेद, अवसाद, के भाव उत्पन्न होते हैं । गुप्त जी कहते हैं शोचनीय प्रसंग उन्हें अच्छा लगता है:—

“रुदन भी ऐसे समय में लगता बड़ा प्यारा हमें
 हे हर ! निर्मल करे यह नेत्र जल धारा हमें !”,
 ‘सिद्धराज’ का वर्णन है:—

“सोरठ की रागिनी में गूँजती है आज भी
 उस हत भागिनी की वीड़ा बड़ भागिनी !
 अजय सुहाग भरी त्याग भरी तान है ।
 कितनी विराग अनुराग भरी मूर्च्छना !”

या साकेत में बन से आगमन का दृश्य लीजिए । सब प्रसन्न हैं, राम दर्शन के लिए अयोध्या फूली नहीं समाती, सब यथा संभव बनाव शृंगार कर जा रहे हैं, सखी उर्मिला को भी खँबारा चाहती है । लेकिन उसका कहना है:—

“हाय ! सखी शृंगार मुझे अब भी सोहेंगे ?
 क्या वस्त्रालंकार मात्र से वे मोहेंगे ?...
 नहीं, नहीं प्राणेश मुझी से छले न जावें
 जैसी हूँ मैं, नाथ वैसा ही तब ।
 मैंने जो वह दग्ध वर्तिका चित्र लिखा है
 उसमें तू क्या आज उठाने चली शिखा है

१र यौबने-उन्माद कहाँ लाऊँगी मैं ?
वह खोया धन आज कहाँ सखि पाऊँगी मैं !

सम्भवतः कुरुणा की यही धारा उनके नारी पात्रों को अधिक प्रभावोत्पादक बना देती है, पाठक के मन में उसका चित्र हमेशा के लिए जम जाता है और 'यशोधरा' में तो स्वयं कवि ने घोषित कर दिया है:—

“अबला जीवन हाय तुम्हारी यही कहानी
आँचल में है दूध और आँखों में पानी !”

अँग्रेजी कवि शेली ने भी लिखा है:—

“Our sweetest songs those
That tell us of the saddest Thought.”

उत्तरोत्तर विकास:—जिस प्रकार गुप्त जी का काव्यकल्प में धीरे धीरे विकास हुआ है उसी प्रकार नारी चित्रण में भी स्थूल से सूक्ष्म होता गया है। रंग में भंग नारी का जो रूप प्रस्तुत करता है वह 'द्वापर' या 'सिद्धराज' में नहीं मिलेगा। उसकी रूपरेखा 'पंचवटी' से निश्चित स्वरूप ग्रहण करती है। अभी तक ऐसा प्रतीत होता है गुप्त जी नारी पात्रों में भावों के प्रयोग कर रहे हैं—कौन किसमें 'फिट' बैठता है। बाद में लेखक इतना अधिकार प्राप्त कर लेता है कि नारी पात्र क्रमशः प्रधान होते जाते हैं।

'पंचवटी', 'अनन्य' तक स्त्री पात्र प्रायः गौण हैं, 'साकेत' 'यशोधरा' में उनका प्राधान्य हो गया है; 'सिद्धराज' और 'नहुष' में स्त्री ही पुरुष पर विजय प्राप्त कर लेती है,—उसी की एक मात्र सत्ता सब पात्र स्वीकार करने लगते हैं। कवि उनकी शक्ति का स्वयं वर्णन नहीं करता—पहले की तरह—बल्कि काव्यात्मक रूप से व्यञ्जित कर देता है।

पात्र निर्माण की दृष्टि से गुप्त जी को नारी पात्रों की सृष्टि में ही सफलता मिली है। 'हरिश्चौध' को 'राधा' के नवीन मानव रूप का गौरव है, प्रसाद 'भद्रा' और 'देवसेना' देकर हिन्दी साहित्य में अमर हो गए हैं तो मैथिलीशरण गुप्त 'उर्मिला', 'यशोधरा' की सृष्टि कर नारी-स्वभाव के विशेषज्ञ पद के स्वतः अधिकारी बन गए हैं !

अध्याय ७

धर्म और भक्ति का स्वरूप

धर्म के क्षेत्र में गुप्त जी ने अपनी व्यक्तिगत रुचि को स्थान देकर भी ईश्वर को व्यापक मानव आदर्श के रूप में प्रस्तुत किया है। तुलसी की भाँति “मस्तक तब नवै धनुष बान लो हाथ” की विशेषता भी है और जायसी की तरह “ओही देखहुँ टाँवहि ठाँऊ” की भी। बीसवीं सदी में अन्य परिवर्तनों के साथ मनुष्य की मानसिक धरती पर धार्मिक मान्यताएँ भी बदलती गईं। युगों के कवि जो आध्यात्मिक या दरवारी आवरण ईश्वर पर चढ़ाते आ रहे थे उसे हटा कर ईश्वर के शुद्ध स्थायी रूप का वर्णन किया गया। “हरिऔध ने कृष्ण को मानव स्वरूप में प्रस्तुत किया, गुप्तजी ने राम को। जो मानव होकर भी अवतार रूप हैं। प्रसाद एक सर्वव्यापक सत्ता पर विश्वास करते थे—स्वरूप उसका चढ़े कुछ हो—और कवि पन्त भी ‘उत्तरा’ की भूमिका में लिखते हैं ईश्वर को मानना ही पड़ेगा तभी सांस्कृतिक युग संचरण संभव हो सकेगा।

१. व्यापकता:—गुप्त जी वैष्णव हैं। राम-सोता की भक्ति पौत्रिक उत्तराधिकार के रूप में मिली इसलिए उसकी जड़ और भी गहरी है। इसका सबसे अच्छा उदाहरण है मंगला चरण। किसी भी रचना को उठा लीजिए राम की वंदना मिलेगी:—

- (१) लोक शिक्षा के लिए अवतार था जिसने लिया निर्विकार, निरीह होकर नर सदृश कौतुक किया रामनाम ललाम जिसका सर्व मंगल धाम है पथम उस सर्वेश को श्रद्धा समेत प्रणाम है !’
(रंग में भंग)

- (२) 'बाचक प्रथम सर्वत्र ही जय जानकी जीवन कहो...' (जयद्रथ वध)
- (३) "मानस भवन में आर्य जन जिसकी उतारें आरती भगवान भारतवर्ष में गूँजे हमारी भारती हो भद्र भावोद भाविनी यह भारती है भगवते सीतापते, सीतापते, सीतापते, सीतापते !" (भारत भारती)
- (४) "आप अवतीर्ण हुए दुःख देख जन के भ्रातृ हेतु राज्य छोड़ वासी बने वन के राक्षसों को मार भा (मेटा धरा धाम का बड़े धर्म, दया-दान युद्ध वीर राम का ।" (सिद्धराज)
- (५) "राम, तुम्हारे इसी धाम में
नाम-रूप-गुण-लीला लाभ
इसी देश में हमें जन्म दो
लो प्रणाम, हे नीरज नाभ ।
धन्य हमारा भूमि भार भी
जिससे तुम अवतार धरो
भक्ति-युद्ध माँगे क्या तुमसे
हमें भक्ति दो ओ अभिताम ! " (यशोधरा) ।

२. हिन्दू धर्म के प्रति आस्था:—प्राचीन भारत का महिमागान करते हुए गुप्त जी ने स्पष्ट किया है आर्य स्त्री पुरुष समभाव से दर्शन, श्रवण, कीर्तन में मग्न रहा करते थे । राजा प्रजा ईश वंदना कर अपने कर्तव्यों का पालन करते थे । ब्राह्मण होम क्रियाओं द्वारा पण्य-परिमल फैलाते थे । उन्होंने बद्ध को

भी अमरार रूप में लिखा है। जैन बौद्ध संघर्ष में समाज अव्यवस्थित होता गया किन्तु :—

“ऐसे विरोधी काल में भी, जो कि सब विधि बाम था
अक्षुरण रहना एक हिन्दू धर्म का ही काम था
अथवा किसी के मेढने से सत्य मिट सकता कहीं ?
घन घेर लें पर सूर्य का आस्तित्व खो सकते नहीं।”

वर्तमान स्थिति यह है कि नाना मतांतरों में भारतवासी उलझ गए हैं, अपना धर्म नहीं समझ पाते। उपदेशक कथनी-करनी का एक होना आवश्यक नहीं मानते, धार्मिकता प्राणों के बदले गले में आ गई है, आडंबरों को देखकर आकाश भी चकराने लगा है। भीतर मलिनता है, दो चार सद्भक्तों को छोड़ सब बगुला भक्त है। पाखंडियों के आक्षेप से सारा समाज छिन्न भिन्न होकर ही दीन दुर्बल होता जा रहा है। शैव मतावलम्बी को वैष्णव से द्वेष है, सगुणवादी को निगुण उपासक से ! तीर्थों में पण्डों ने स्वर्ग का ठेका ले लिया है। न ब्राह्मणों को अपनी मर्यादा का ध्यान है, न अन्यो वर्णों को ! ऐसी स्थिति में भी गुप्त जो हिन्दू धर्म को ही एक मात्र शाश्वत सत्य मानते हैं:—

विष्णुत हिन्दू धर्म ही सच्चा सनातन धर्म है
वह धर्म ही धारण क्रिया का नित्य कर्ता कर्म है
परमार्थ की, संसार की भी, सिद्धि का वह धाम है
पर वाद और विवाद में हो आज उसका नाम है ?”

इसी दृष्टिकोण के कारण शायद कुछ आलोचक गुप्त जी को जातीय कवि कह देते हैं।

३. बाध्याजारों का विरोध लेकिन गुप्त जी धर्म के क्षेत्र में आडंबरों के पक्ष-पाती नहीं। वे ब्राह्मण, क्षत्री, वैश्य, शूद्र सब पर जम कर आघात करते हैं क्योंकि वे वर्ण व्यवस्था का पालन नहीं करते। धर्म एकता के लिए बना था, आज पारस्परिक मतभेद, कलह का कारण बन गया है। पुराहित अविद्या से लड़

भगड़ कर अड़ जाने में ही अपने धर्म का गौरव समझते हैं। साधू, सन्त चिमटा लेकर भस्म रमाते हुए माँगते खाते हैं। तुलसी के समय में भी यही अवस्था हो गई थी:—

“नारि मुई घर संपति नासो
मूड़ मुड़ाय भए सन्यासी !”

यहाँ गुप्त जी ने भी चित्र खींचा है :—

“वे भूरि संख्यक साधु जिनके पन्थ भेद अनन्त हैं
अवधूति, यति, नागा, उदासी, संत और महंत हैं
हा वे गृहस्थों से अधिक हैं आज रागी दीखते...
पर चिन्ह तो वैराग्य का अब है जटाओं में यहाँ
भूखों मरे कि जटा रख कर साधु कहलाने लगा
चिमटा लिया, भस्मी रमाई माँगने खाने लगे...
पर हाय ! इनमें ज्ञान तो बस राम का ही नाम है
दम की चिलम में लौ उठाना मुख्य इनका काम है ?”

यही स्थिति मन्दिर महन्तों की भी है। प्रेमचन्द ने अपने उपन्यासों में इनका खोलकर रहस्य उद्घाटन किया है। कपड़े हैं गेरूए पर रेशमी, सोने की कुर्सी पर बैठते हैं। चरणामृत के लिए रोज पाच पाच मन दूध चाहिए। गुप्त जी भी उन पर व्यंग्य करने में पीछे नहीं :—

“अब मन्दिरों में रामजनियों के बिना चलता नहीं
अश्लील गीतों के बिना वह भक्ति फल फलता नहीं
वे चौर हरणादिक वहाँ प्रत्यक्ष लीला-जाल हैं
भक्त स्त्रियों हैं गोपियाँ, गोस्वामी ही गोपाल हैं !”

गुप्त जी यह उच्छ्वसिलता धर्म के क्षेत्र में नहीं चाहते। उसका कहना है प्रत्येक वर्ग अपने कर्तव्य धर्म के प्रति जागरूक हो। तीर्थ गुरुओं को आत्म सुधार कर समाज का पथ प्रदर्शक बनना चाहिए, साधु संतों को वास्तविक सिद्ध होना चाहिए जो अपने मन से इन्द्रियों के रोग की बाधा मिटा दें कामना गुप्त जी

की यही है “वेद के उपदेश का प्रस्ताव” होना चाहिए हम आत्मा और भौतिकता दोनों में ऊँचे उठ जाय :—

“भीतर अलौकिक भाव हो, बाहर जगत का कर्म हो
प्रभु भक्त, पर हित और निश्छल नीति हो ध्रुव धर्म हो
वे अपने राम से भी यही मागते हैं।”

४. दृष्टिकोण की उदारता:—गुप्त जी चाहे माँगते सभी कुछ अपने राम से है लेकिन सांप्रदायिकता उनके धार्मिक दृष्टिकोण में नहीं है। यह अवश्य है वे राम की ओर विशेषतः टल जाते हैं फिर भी अन्य धर्मों के प्रति उनके विचार उदार हैं। ‘गुरुकुल’ में वे नानक से लेकर गोविंदसिंह, वन्दा वैरागी का गौरव वर्णन करते हैं। दो बच्चे तक स्कारो को प्रधानता देते हैं “सिर दिया पर सार न दिया” की भावना से प्रेरित होते हैं। गुप्त जी बौद्धावतार का वर्णन भी करते हैं। ‘अनघ’ और ‘यशोवरा’ इसके उदाहरण हैं। ‘द्वापर’ में कृष्ण सम्बन्धी प्रसंगों पर लेखनी उठाई है और “मुझ पर चढ़ने से रहा राम दूसरा रंग” कह कर अनन्यता भी प्रदर्शित की है। अन्यत्र भी कृष्ण का उल्लेख हुआ है :—

“उर के न कपाट खुले खटके
नट नागर आज कहाँ अटके ?”

तो ‘कावा कर्वाल’ लिखकर इस्लाम के प्रति भी उदारता दिखाई है। मुसलमानों के प्रति विरोध भावना कहीं नहीं मिलेगी। इस तरह गुप्त जी की धार्मिक अभिव्यक्ति संकुचित नहीं माननी चाहिए। गुलाबराज जी ने ठीक कहा है। “राम भक्त होते हुए भी गुप्त जी ने कृष्ण काव्य के प्रति उदासीनता नहीं दिखलाई। इतना ही नहीं उन्होंने तो बुद्धावतार की भी कथा लिखी है और सिक्ख गुरुओं का भी यश गान किया है। गुप्त जी की राष्ट्रप्रेमता धार्मिक उदारता में परिणत हो जाती है। कावा और कर्वाल नाम का इस्लाम धर्म सम्बन्धी भी एक काव्य उन्होंने लिखा है। उसके द्वारा मुसलमानों के साथ हमारी सहानुभूति बढ़ेगी। गुप्त जी अपने संप्रदाय के कट्टर भक्त हैं किन्तु उनमें सांप्रदायिकता नहीं आने पाई है।”⁵

५. पात्रों द्वारा अभिव्यक्ति:—गुप्त जी के नारी पुरुष दोनों पात्र धार्मिक भावों से प्रेरित हैं। राजपूतों को अपने क्षत्री धर्म का गौरव है तो स्त्रियाँ कुल देवता की उपासना करती हैं। पात्र दुःख भेलते हैं, विपत्तियों सहते हैं लेकिन ईश्वर के प्रति उनकी अवस्था निराश स्थिति में भी बनी रहती है। भगवान् प्रत्यक्ष सहायक भी होते हैं। अर्जुन कृष्ण की सहायता से हो जयद्रथ वध में सफल हो सका। अर्जुन ने उनकी शक्ति स्वीकार की है :—

“क्या कार्य कर सकता हरे में आप आपनी शक्ति से ?
है सब तुम्हारी ही कृष्ण, हूँ नाम का ही वीर मैं
भूला नहीं अब तक तुम्हारा वह विराट शरीर मैं...”

युधिष्ठिर ने तो कृष्ण के रूप में साक्षात् ईश्वर की वदना की है :—

“ हो निर्विकार तथापि तुम हो भक्त वत्सल सर्वदा
हो तुम निरीह तथापि अद्भुत स्रष्टि रचते हो सदा
आकाशहीन तथापि तुम साकार संतत सिद्ध हो
सर्वेश होकर भी सदा तुम प्रेम वश्य प्रसिद्ध हो...
पाकर तुम्हें फिर और कुछ पाना न रहता शेष है
पाता न जब तक जीव तुम को भटकता सविशेष है।
जो जन तुम्हारे पद कमल के असल मधु को जानते
वे मुक्ति की भी कर अनिच्छा तुच्छ उसको मानते...
है सच्चिदानन्द प्रभो ! तुम नित्य-सर्व सशक्त हो
अनुपम, अगोचर, शुभ, परात्पर, ईश्वर अव्यक्त हो
तुम ध्येय, ज्ञेय अज्ञेय हो निज भक्त पर अनुरक्त हो
तुम भव विमोचन, पथ लोचन, पुण्य पथ्यासक्त हा..
कर्ता तुम्हीं, भर्ता तुम्हीं, हर्ता तुम्हीं हो सृष्टि के
चारों पदार्थ दयानिधे, फल हैं तुम्हारी दृष्टि के...
क्या है हमारा सृष्टि में ? यह सब तुम्हीं से है बनी
संतत ऋणी हैं हम तुम्हारे, तुम हमारे हो धनी ! ..”

इसी प्रकार मीलनदे संध्या प्रातः उपासना करती है। दूसरी क्षत्राणी सोमनाथ महादेव का दर्शन करने जाती है। गुप्त जी ने मानो अपनी मान्यता उसके मुँह में व्यक्त करा दी है :—

“देवि ! मेरे पर स्वःव नहीं किसका ?
चाहें जहाँ विचरे-रहें वे, मौज उनको
किन्तु प्रार्थना है यही, रखें सुव सबकी,
और इस जन की भी सग संग सबके !”

६, राम का स्वरूप :—मेरा विचार है गुप्त जी ने राम का अवतारी स्वरूप भी रखने की चेष्टा की है और आदर्श-मानव वाला रूप भी—जो युग की मांग थी। जिस प्रकार महात्मा तुलसीदास का विचार था :—

“अगुन, अरूप अलख, अज जोई
भगति प्रेम बस सगुन सो होई ”

उसी प्रकार गुप्त जी का भी विश्वास है निर्गुण सत्ता राम के रूप में सगुण और साकार हो गई है इस कारण स्वर्ग की अपेक्षा अधोधा का महत्व बढ़ गया है। राम को अवतार लेने की जरूरत क्यों पड़ी ? क्यों वे स्वर्ग के सुख छोड़कर मानव धरती पर उतर आए ? गुप्त जी की मान्यता है कि वे भक्त वत्सल रहे हैं, लीला करते रहे हैं—अर्थात् यह जगत जीव सब उसकी है—इसलिए ससार को मार्ग दिखाने के लिए अवतरित हुए हैं :—

“असुर शासान शिशिर मन हेमन्त है
पर निकट ही राम राज्य वसंत है
पापियों का जान लो अब अन्त है
भूमि पर प्रकटा अनादि अनन्त है !”

अर्थात् गुप्त जी का विश्वास है राम आज भी आदर्श हो सकते हैं, उनका अनुकरण किया जा सकता है, वे सर्वत्र व्याप्त भी हैं :—

“राम तुम मानव ? ईश्वर नहीं हो क्या ?
शिव में रमे हुए नहीं सभी कहीं हो क्या ?

तब मैं निरीखर हूँ, ईश्वर चमा करे
तुम न रमो तो मन तुम मैं रमा करे !”

इसलिए अपने राम का वे कर्म क्षेत्र में प्रविष्ट कराते हैं। धरती में ही राम को सौंदर्य, महत्व का ज्ञान होता है। मृच्छित पिता से स्वयं पूछते हैं, “खड़ा हूँ राम यह मैं बात क्या है ?” समझ लेने पर भाव भगिमा में कोई परिवर्तन नहीं। मर्यादा वही है—न शोक न हर्ष यही राम का व्यक्तित्व है :—

“अरे, यह बात है तो खेद क्या है
भरत में और मुझमें भेद क्या है?...
मुझे था आप ही बाहर विचारना
धरा का धर्म भय था दूर करना !”

इससे जन कल्याण भी होगा। माता पिता को कष्ट क्यों ? वे अपना कर्तव्य-पालन कर रहे हैं। भाई को भी समझाते हैं ! तृष्णा जैसे राज्य के हेतु विरोध क्यों ? वे निर्बल नहीं हैं, भाग्य भी खराब नहीं है, लेकिन धर्म पालन सबसे बड़ा है :—

“अवल तुम्हारा राम नहीं
विधि भी उस पर वाम नहीं
वृथा क्षोभ का काम नहीं
धर्म बढ़ा, धन धाम नहीं
मंझली मां पर कोप करूँ ?
पुत्र धर्म का लोप करूँ ?”

और गुरुजनों की अनुमति लेकर बन चले गए। बन में राम ने अपना लक्ष्य स्पष्ट कर दिया। वे आयों का आदर्श स्पष्ट करने के लिए उत्पन्न हुए हैं त्याग, धर्म ही सर्वश्रेष्ठ है। विश्वासी का विश्वास बना रहे, भयात्र निर्भय हो जाँय—वे मर्यादा की रक्षा करने उत्पन्न हुए हैं ताकि यह भूतल ही स्वर्ग हो जाय, बेदों की बाणी उच्चारित हो, सब तत्व ज्ञान में दत्त चित्त से जांच। यह राम मानव रूप है:-

“मैं आया उनके हेतु कि जो तापित हैं
जो विवश, विकल, बल हीन, दीन शापित हैं...

सुख देने आया, दुःख मेलने आया...
 मैं मनुष्यत्व का नाट्य खेलने आया...

भव में नव वैभव व्याप्त कराने आया
 नर को ईश्वरता प्राप्त कराने आया
 संदेश नहीं मैं यहाँ स्वर्ग का लाया
 इस भूतल को ही स्वर्ग बनाने आया...

उच्चारित होती चले वेद की वाणी
 गूँजें गिर कानन सिंधु पार कल्याणी
 अम्बर में पावन होम धूप घहरावे
 वसुधा का हरा दुकूल भरा लहरावे..."

तब वे राक्षसों के अत्याचार से भू-भार हरते हैं। गुप्तजी ने आदर्शात्मक सृक्तियाँ प्रायः राम के मुँह से ही व्यक्त की हैं। जीवन में त्याग, धर्म कर्म का महत्व है। मर्यादा आवश्यक है। धन धारणी उतना महत्व नहीं रखती। कर्तव्य पालन मुख्य है। जीवन में उपभोग की मान्यता नहीं, साधना की मान्यता है।

“तुम सुनो सदैव समीप है जो अपना आराध्य है
 आओ हम साथें शक्ति भर, जो जीवन का साध्य है ?”

इसी तथ्य को ध्यान में रखकर शुक्ल जी ने लिखा है:—

“गुप्त जी जीवन और जगत के व्यक्त क्षेत्र में ही महत्व और सौंदर्य का दर्शन करने वाले तथा अपने राम को लोक के बीच अधिष्ठित देखने वाले हैं।”

राम की भक्ति व्यक्तिगत रुचि के कारण एक दूसरी दृष्टि से भी है। गुप्त जी ने राम को आराध्य के रूप में इसलिए चुना कि उनका जीवन अधिक पूर्ण व समाज के लिए आदर्शात्मक हो सकता था। उनके द्वारा जीवन की विविध मान्यतार्यें स्थापित की जा सकती थीं। तुलसी की परंपरा थी ही, युग के अनुकूल उन्होंने नवीन रूप यही दिया कि राम मानव हो गए, तुलसी ने जब भी राम का वर्णन किया है या सीता का चित्रण किया है, वे यह कहना नहीं भूलते कि दोनों ब्रह्म हैं,

ईश्वर हैं। सीता माता है। अर्थात् मानव लीलायें करते हुए भी राम परब्रह्म है जब कि गुप्त जो के राम ब्रह्म होकर भी मानव हैं—इसका संकेत वे यथास्थान करते रहते हैं। इसी राम की गुप्त जी निरंतर भक्ति चाहते हैं जिसके सामने मोक्ष भी तुच्छ है यही तुलसी की धारणा भी थी—

“ **अरथ न, धरम न, काम रुचि, पद न यहाँ निर्वाण
जनम जनम रघुपति भगति, यह वरदान न आन !”**

कहना चाहिए कि गुप्त जी ने तुलसी के राम को धरती पर उतार कर आधुनिक युग के आदर्शों के अनुकूल बना दिया है।

७. **अज्ञात सत्ता के प्रति भावाभिव्यक्ति:**—यहाँ तक को राम के सगुण साकार रूप का विवेचन हुआ जिनके गुप्त जी परम भक्त हैं। अब मैं कुछ चर्चा उन कविताओं को करूँगा जो ‘मंगल घट’ और विशेषकर ‘भंकार’ में संग्रहीत है। यहाँ सत्ता अरूप निराकार रूप में है जिस की निरंतर रहस्यानुभूति होती रहती है। आलोचकों ने यह गुप्त जी पर छायावादी प्रभाव सिद्ध करने की चेष्टा की है—“तृतीय उत्थान में ‘छायावाद’ के नाम से रहस्यात्मक कविताओं के स्वर का कलरव सुन इन्होंने भी कुछ गीत रहस्यवादियों के स्वर में गाए जो ‘भंकार’ में संग्रहीत है, पर असीम के प्रति उत्कण्ठा और लंबी चौड़ी वेदना का विचित्र प्रदर्शन गुप्तजी की अन्तः प्रेरित प्रवृत्ति के अतर्गत नहीं। काव्य का एक मार्ग चलता देख ये उधर भी जा पड़े।” १

मेरा विचार है रवीन्द्र आदि के अध्ययन का उन पर प्रभाव चाहे रहा हो लेकिन इन कविताओं की अभिव्यक्ति को उनकी स्वाभाविक प्रवृत्ति के रूप में ही ग्रहण करना चाहिए। जैसे वे कृष्ण सिख गुरुओं के गीत गाते हैं या कहीं भाषा शैली में तुक पर उतर आते हैं उसी प्रकार शायद सोचा हो तुलसी के राम के लिए ही है, कबीर जायसी के निर्गुण राम क्यों छूटे ? अर्थात् मैं इन कविताओं पर छायावादी प्रभाव के रूप में मानना ठीक नहीं समझता, साथ ही कवि के ‘मूड’ की उपेक्षा समझता हूँ।

उस अज्ञात सत्ता की खोज करते हुए जीवात्मा कहती है तुम्हारा भी अस्तित्व है अं ६ मेरा भी । कही दोनो आँख मिचौनी खेलते हैं—

“हार मानने ही में तब तो
होगी मेरी जीत यहाँ
आँख मिचौनी में तुम प्यारे
बलक मारते छिपे कहाँ ?”

तो कही उस सत्ता के प्रति प्रणय निवेदन है—

“चोर चोर !
घर के पीछे हो उठा शोर
मैं जाग पड़ी
हो गई खड़ी
फिर चौंकी ज्यों चौंके चकार”

भक्त के उस साध्य से अनेक संबन्ध है—

“जैसा वायु बहा वैसा ही
वेणु रन्ध्र रब छाया
वैसा धक्का लगा लहर ने
वैसा ही बल खाया
मेरे तार तार से तेरी
तान तान का हो विस्तार
अपनी अंगुली के धक्के से
खोल अखिल श्रतियों के द्वार !”

दोनों अनादि और अनन्त हैं । शरीर उसकी जैसे वीणा है—

“इसे बजाते हो तुम जब ल
नाचेंगे हम भी तब लों
चलने दो न कहो कुछ कब लों

यह क्रीड़ा कल्लोल

तुम्हारी वीणा है अनमोल !”

किन्तु महादेवी वर्मा की तरह गुप्त जी “थकी अगुली ढीले हैं तार” की चर्चा नहीं करते। उनके जीव में क्रीड़ा की चंचलता है, बालक की अस्थिरता है, प्रौढ़ की वेदना, विपाद की अन्तर्धारा नहीं है। प्रसाद की तरह उनकी आह शिथिल भी नहीं। हाँ, निराला के जीवव्रज का सबन्ध—

“तुम तुंग हिमालय शृंग

और मैं चंचल गति सुर सरिता ।”

उनकी वाणी में कुछ मिलता है। उनकी ‘बाल बोध’ कविता भी अद्वैत का संकेत करती है—

“अब भी एक प्रश्न था—‘कोऽहं’

कहूँ कहूँ जब तक— ‘दासोऽहं’

तन्मयता कह उठी कि—‘सोऽहं’

बस हो गया सबेरा

दिनमाणि के ऊपर उसकी हो

किरणों का है घेरा

पहले एक अजन्मा जाना

फिर बहु रूपों में पहचाना

बे अवतार चरित नब नाना

चित्त हुआ चिर घेरा

निर्गुण, तू तो! निखिल गुणों का

निकला वास बसेरा !”

एक कविता में जीव कहता है आकाशों की कोई चिन्ता नहीं, भंकार उठनी चाहिए। सब सुर सजीव तथा साकार हो जाय। ‘परिचय’ में व्यक्त है कि परमात्मा का दर्शन नाना रूपों में होता है, पर जीव उसे पहचान नहीं पाता। ‘स्वयं आगत’ कविता भावों की दृष्टि से बड़ी मधुर है—

“ बीत चुकी है वेला सारी
 किंतु न आई मेरी बारी
 करूँ कुटी की अब तैयारी
 वहीं बैठ गुण गाऊँ मैं—
 कुटी खोल भीतर जाता हूँ
 तो वैसा ही रह जाता हूँ
 तुझको यह कहते पाता हूँ
 “अतिथि कहो क्या लाऊँ मैं ?”

कही वे उस पन्ना से “हृदय बोल” पर भूलने की चर्चा करते हैं तो ‘शरणागत’ में स्वयं उसकी “चरण शरण” में पहुँच जाता है । कबीर की प्रेम साधना में ये भाव बड़े मार्मिक हुए हैं । कही आत्मा विरहिणी के रूप में ध्यान का चरखा चलाती जा रही हैं—प्रिय आएं तो नेत्र के आँसू वह भेट चढ़ा दे । कह अभिसार में राह फिसलने का भय होता है तो कही अधैर्य—कब तक खड़ी रहे ? भेंट में देने के लिए कुछ अवश्य चाहिए ! ‘भंकार’ की एक कविता में भी इसी तरह जीवात्मा बड़े यत्न से माला गूँथती है, कही सोच-विचार करती है—

“मिलूँ क्या जाकर रीते हाथ
 प्रहरी, क्या कहते हो ? मन में
 क्या सोचेंगे नाथ,
 है ही क्या ? बस एक फूल यह
 तजूँ इसे भी आज
 अच्छी बात, इसी मिस मेरी
 रह जायगी लाज
 चला मैं, चला न कुछ भी साथ
 मंदिर में भारी सिंहासन पर
 बैठ थे बर वास
 बिस्मय कैसे व्यक्त कुसुम वह

पहुँचा उनके पास
सूँघते थे गुण गौरव गाथ
हंस बोले वे—“भेंट तुम्हारी
हुई मुझे स्वीकार
किंतु बनाओगे अपने को
तुम किसका उपहार.....”

इस सवन्ध में डा० सत्येन्द्र के विचार दृष्टव्य हैं— ‘यों कहने को ‘भंकार’ को छयावाद का व्यंग्य कहा जा सकता है...इसे छयावाद की पैरोडी भी कोई कहदे चाहे तो । छयावाद के शून्य, तन्त्री, तार, वेदना आदि प्रतीकों का इसमें भी सहारा लिया गया है । युग का प्रतिनिधि कवि बनने की उमंग में किया गया एक छयावादनी, नई शैली का प्रयोग भी ‘भंकार’ को कहा जा सकता है, और यह सब कुछ होते हुए भी वस्तुतः भंकार की मूल वस्तु में ऐसा कुछ भी नहीं है..... युग के सत्कार से वह आत्म सौंदर्य को जानने चला, प्रगीतता का आत्मविभोर साधन उसने चुन लिया और वह चीत्कार कर पड़ा, वह चीत्कार ही ‘भंकार’ है..... और जब वह तन्त्री का तार हो गया तो—कर प्रहार, हों, कर प्रहार की ध्वनि हो उठी—

“नाची कितने नाच न जाने
कठ पुतली सी काया
मिटो न तृष्णा, मिला न जीवन
बहुतेरा मुँह बाया ।”

तो कवि चीत्कार कर—

अर्थ भूल कर इसीलिए अब
ध्वनि के पीछे धाया !

तो इस चीत्कार में चाहा तो है कवि ने भक्तों जसी मनुहार करे, भक्तों जैसा रूप दर्शन करे—संगीत की लय पर अपनी मधुरता उडेल दे । पर यह नहीं हो सका—काव्य का बौद्धिक स्तर कवि इसमें नहीं पा सका पर दार्शनिक प्रबुद्धता ले आया है वह भी कुछ-कुछ । इन गीतों में स्निग्धता, सौम्यता से अभिमण्डित ही

चीत्कार है—सौंदर्यानुभूति नहीं—कवि को जब आत्मा में कुछ क्रॉंति दीखती मिलती है तो वह कॉप उठता है और उस अनुभूति को रोक देता है—

“बस बस अरे हरे ! बस

आहा ! तनिक ठहरजा-हा हा

उठा न टूक लूक मुरली की

हो न जाय सब स्वाहा !

x

x

x

दीवट सी जल उठे न जगती

पाकर नभ का फाहा !

x

x

x

सम्मुख पड़े कहीं कोकिल तो

कन्ठ वहीं कट जावे

क्या जाने इस ध्वनि धारा में

कहाँ कौन तट जावे !

कितना है यह अंबर

जिसमें स्वर समूह अट जावे

देख दीन ब्रह्मांड न घट सा

उपट कहीं फट जावे.....”

“ओह कवि कितना कातर होकर ‘हा हा’ खा उठा है—आत्म प्रदेश में भाँकते ही उसे जिस क्रॉंतिमय अनुभूति का सामना करना पड़ा, उसे वह भेल नहीं सका। वह क्रॉंतिकारी नहीं—क्रॉंतिकारी जिसे हृदय से मानता, उसे ही आता हुआ देखकर इस कवि ने अनुभूति का वह द्वार बन्द कर दिया। वेदना वह नहीं चाहता, चाहता भी है तो वह मन्द वेदना जिसमें अपना दैनिक विलास चलता रहे। कितना भय है उसे इस बात का कि क्या जाने इस ध्वनि धारा में कहीं कौन तर जावे ! वह ‘Status quo of thing’ वस्तुओं की पदार्थता को यथा स्थान देखना चाहता है। इसमें जो सौंदर्य की अनुभूति है उसे कवि नहीं पा सका—तभी

उसकी भंकार गीत की कड़ियों में बैठी हुई होने पर भी प्रगीतात्मक नहीं होने पाई !”

मैंने यह लबा उदाहरण इसलिए दिया है कि पाठक डा० साहब का दृष्टिकोण समझे और ‘भंकार’ के आधार पर अपना मत निश्चित करें। मैं उनकी इस निर्णयात्मक आलोचना के चरम स्वरूप से सहमत नहीं हूँ। ‘भंकार’ में भक्त के भावों की मार्मिक व सफल ही अभिव्यक्ति हुई है और उनमें सौंदर्य भी कम नहीं। व्यंग्य या उपहास के लिए भी इन कविताओं की रचना नहीं हुई। अनुभूति का व्यक्त करने में वह असफल नहीं रहा है और न वह चीत्कार ही है। वे तो एक भावुक भक्त के उद्गार मात्र हैं। यह सही है अभिव्यक्ति में कहीं गहराई नहीं आई है और शैली ने साथ नहीं दिया है। लेकिन इसका कारण भाव नहीं बल्कि शैली है, माध्यम सशक्त नहीं है। छन्द का विचित्र तुक बिधान अभिव्यक्ति को हलका बना देता है। गुप्त जी की यह त्रुटि, एक शब्द पकड़ कर उससे मिलता शब्द भरते चलना, केवल भंकार में ही नहीं, अन्य कृतियों में भी है। आगे एक स्वतंत्र अध्याय में इस पर मैंने प्रकाश डाला है।

‘मंगल षट्’ संग्रह में भी कुछ कविताएँ इस प्रकार की हैं। कवि ‘पुष्पांजलि’ के अन्तर्गत कहता है—

“मेरे आंगन का एक फूल
सौभाग्य भाव से मित्रा हुआ
श्वासोच्छवासों से हिला हुआ
संसार त्रिटेप से खिला हुआ
झड़ पड़ा अचानक भूल भूला
आए इतने में श्री निवास
था इसी फूल सा मन्द हास
बोले, इसमें था स्वर्ग वास
बह गई, सूक्ष्म था, रहा स्थूल
बोला तब मैं—हे राज-राज
क्या है इसके असिक्त आज

जिसकी अंजलि दूँ तुम्हें साज
लो इसको ही सब दोष भूल !”

संदेह में कदा जा सकता है कि गुप्त जी ने सगुण निर्गुण भक्ति भावन में भी समन्वय करने की चेष्टा की और अपने परम वैष्णव देव राम का रूप भी अनुकरण रखा। प्रत्येक धर्म पर आस्था प्रकट की और एक लोक धर्म की व्याख्या की जिसे सभी वर्ण-वर्ग समान भाव से मान सकते हैं। विशेषता यह है कि उनकी यह भक्ति भावना या धर्म का स्वरूप भारतवर्ष की कल्याण कामना के लिए है, — देश-समाज हित के लिए है—

अपने देवता से वे यही मांगते हैं:—

“यह आर्य भूमि सचेत हो फिर कार्य भूमि बने अहा
वह प्रीति नीति बड़े परस्पर, भीति भाव भगाइये !
किसके शरण होकर रहें ? अब तुम बिना गति कौन है !
हे देव ! वह अपनी दया फिर एक बार दिखाइये !”

— — — — —

अध्याय ८

भारतीय संस्कृति की भलक

संस्कृति क्या है ? यही कि मानवता के विकास में विभिन्न ऐतिहासिक परिस्थितियों के बदलते हुए किसी देश या जाति ने अपनी सभ्यता, धार्मिक साधनाओं, कलात्मक कृतियों, सामाजिक परंपराओं या साधनाओं द्वारा जो पूर्णताएँ—आदर्श प्राप्त किए हैं। उस देश या जाति की साधनाओं को ही संस्कृति कहा जा सकता है।

“अपनी विशेष भौगोलिक परिस्थिति में और विशेष ऐतिहासिक परम्परा के भीतर से मनुष्य के सर्वोत्तम को प्रकाशित करने के लिए इस देश के लोगो ने भी कुछ प्रयत्न किए हैं। भिन्न-भिन्न देशों और भिन्न-भिन्न जातियों के अनुभूत और साक्षात्कृत अन्य अवरोधी धर्मों की भाँति वह मनुष्य की जयमात्रा में सहायक है। वह मनुष्य के सर्वोत्तम को जितने अंश में प्रकाशित और अग्रसर कर सका है उतने ही अर्थ में वह सार्थक और महान है। वही भारतीय संस्कृति है। उसको प्रकट करना, उसकी व्याख्या करना या उसके प्रति जिज्ञासा भाव उचित है।”

अर्थात् भारतीयों ने सांस्कृतिक अनुष्ठान में जहाँ तक उसकी उच्च भावनाओं को व्यक्त करने की चेष्टा की है—उत्तम आदर्शों का प्रकाशन किया है, जो दूसरों के लिए अनुकरणीय हो सकें—वही तक वह भारतीय संस्कृति है। इस दृष्टि से भारतीय सभ्यता, आचार विचार, रीति नीति, दर्शन-साहित्य आदि ज्ञान के क्षेत्रों में पूर्णता आदि भारतीय संस्कृति के अन्तर्गत आती हैं। मैथिलीशरण गुप्त ने अपनी काव्य कृतियों में इन तत्वों को भलकाने की कोशिश की है जिनके अध्ययन

से मालूम पड़ता है कि भारतीय संस्कृति—वैदिक काल से लेकर बीसवीं सदी तक—किस तरह उनके रोम-रोम में रमी हुई है।

उनके हिन्दी काव्य क्षेत्र में आने सन १८५७ के बाद भारत दुर्दशा अधिक न सह कर दुःखी थे, कोई हिन्दी, हिन्दू, हिन्दुस्तान का संदेश दे रहे थे। गुप्त जी ने अपनी पौराणिक महाभारत, तथा हिन्दू संस्कृति सम्बन्धी रचनाओं में ये प्राचीन आदर्श न्यायिक रूप में प्रस्तुत किए। उनकी स्फुट कविताएँ भी—‘स्वदेश सगीत’, ‘किसान’, ‘वैतालिक’ आदि भी इसी संस्कृति का आवाहन करती हैं। ‘अनघ’ का सिद्धांत वाक्य है :—

“न तन सेवा न मन सेवा
न जीवन और धन सेवा
मुझे है इष्ट जन सेवा
सदा सच्ची भुवन-सेवा !”

‘तिलोत्तमा’, ‘चन्द्रहास’ रूपकों में या ‘अनघ’ की राजमहिषी में उदारता, लोक पीड़ा सम्बन्धी कातरता व्यक्त है। मध्य देश—भावना से प्रेरित है कि रोगी की रक्षा पहला कर्तव्य है ‘शक्ति’ काव्य में संगठन की भावना है—“संघ शक्ति ही कलि दैत्यो का भेदगी आतक” ‘रग में भग, द्वारा जन्मभूमि बूंदी की महत्ता स्थापित है तो ‘वन वैभव’ में युधिष्ठिर अपनी अवस्था पर सतोष प्रकट करते हुए कहते हैं :—

“सहेंगे दुःख हम भी धर्मार्थ
पुन्य ही तो है परम पदार्थ !”

‘पञ्चवली’ में राजपूतों के, मुसलमानों के सांस्कृतिक तथ्यों की अभिव्यक्ति है। पृथ्वीराज राणा प्रताप को भारतीय शौर्य के प्रति जागरूक कराते हैं यदि तुम्हीं हताश हो गए तो सर्वनाश हो जायगा’ और प्रताप प्रण करते हैं कि वे दुःख भेलेंगे परन्तु जीते जी दैन्य प्रकट नहीं करेंगे। जोधपुर की महारानी तो जसवतसिंह को उनकी कायरता पर फटकार देती है :—

“जाओ यहाँ से तुम लौट जाओ
तुम्हें यहाँ स्थान कहाँ कि आओ

हो शून्य तो भी यह सिंह पौर
है गीदड़ों को इसमें न ठौर !”

गुप्त जी की प्रधान रचनाएँ लीजिए। लिखते हैं—“हिन्दी में आजकल ऐसी पुस्तकों की बड़ी आवश्यकता है जिनके द्वारा हमें अपनी पूर्व परिस्थिति का यथार्थ ज्ञान होकर सब प्रकार की उन्नति करने में प्रोत्साहन मिले !” जयद्रथ वध के आरम्भ में ही उन्होंने महाभारत के युद्ध का मूल कारण दे दिया। युद्ध इसलिए हुआ कि पाण्डव अधिकार खोकर हाथ पर हाथ रखे बैठ नहीं सकते थे उनका धर्म था न्याय के लिए भाई को भी दण्ड दे ! चक्रव्यूह भेदने का विकट प्रश्न है तो सोलह वर्ष का अभिमन्यु महारथियों से उलझने को तैयार हो जाता है। भारतीय सस्कृति की विशेषता है कि प्रत्येक व्यक्ति अपने कर्तव्य का पालन करे। वह फल पर ध्यान नहीं देता। गीता का “कर्मण्ये वाधिकारस्ते” वाला सिद्धांत मानता है :—

“अभिमन्यु षोडश वर्ष का फिर क्यों लड़े रिपु से नहीं
क्या आर्य-वीर विपत्त वैभव देखकर डरते कहीं?...
कर व्यूह भेदन आज त्यों ही वैरियों को मार के
निज तात का मैं हित करूँगा विमल यश विस्तार के !”

१. पात्रः—उत्तरा भारतीय आर्य नारी है, उसे युद्ध से विरत नहीं करती। वह भी शक्ति में ही सिद्धि मानती है, क्षत्राणी का गौरव ही यही है पति-पुत्र को स्वयं रण सज्जित करें :—

“जो वीर पति के कीर्ति पथ में विघ्न बाधा डालती
होकर सती भी वह कहां कर्त्तव्य अपना पालती ?”

वह प्रार्थना करती है, नेत्र जल से भर आते हैं, उत्तरा आसुओं का ही अर्घ्य चढ़ा देती है ! अभिमन्यु युद्ध में शत्रु को बिछा देता है। स्वयं द्रोणाचार्य ने उसकी प्रशंसा की है। जब उसकी शक्ति नहीं रोकी जा सकी तभी सप्त महारथियों को भारतीय मर्यादा का उल्लंघन करना पड़ा। फिर भी वीर गरजता है :—

“दो शस्त्र पहले तुम मुझे फिर युद्ध तुम मुझ से करो—
देखूँ यहाँ फिर मैं तुम्हारी धीरता, गंभीरता

हो सात क्या सौ भी रहो तो भी रुलाऊँ मैं तुम्हें
कर पूर्ण रण लिप्सा अभी क्षण में सुलाऊँ मैं तुम्हें
निःशस्त्र पर आघात करना सर्वथा अन्याय है...”

और मुरपुर को चलते चलते भी बढ़ तात अर्जुन, मातुल कृष्ण को प्रणाम करना नहीं भूलता। जैसे साक्षात् भारतीय वीरत्व अभिमन्यु में मूर्तिमान हो उठा हो ?

पति विहीन नारो का भारतीय कुटुम्ब में कोई महत्व नहीं, विधवा का कोई मूल्य नहीं और उत्तरा मूर्छित होकर गिर पड़ती है। अन्य पाण्डव स्त्रिया भी रोती है। उत्तरा को सती हो जाना चाहिए था लेकिन गुप्त जी ने कारण दिया है—“वह गर्भिणी थी इसलिए निज तनु उसे रखना पड़ा।”

२. युद्ध प्रथा—भारतीय युद्ध की परम्परा है सूर्यास्त के उपरांत सेनाएँ शिविरों में लौट जायँ। अर्जुन व्याकुल होता है, कृष्ण अपना चक्र हटाते हुए कहते हैं:—

“हे पार्थ प्रण पूरा करो, देखो अभी दिन शेष है ?” युद्ध भूमि में सैनिक तथा नायक परस्पर एक दूसरे को “आप” कह कर संबोधित करते हैं। युधिष्ठिर कृष्ण का उपकार नहीं भूलते।

“सूर्यास्त होना जानकर फिर जब लड़ाई रुक गई
निष्प्रभ पराजित कौरवों की रण-पताका झुक गई !”

‘भारत भारती’ के अतीत—वर्तमान खण्डों में तो गुप्त जी हिन्दू संस्कृति के प्रतिनिधि से बन र सामने आते हैं। सामाजिक, आर्थिक, धार्मिक, राज-नैतिक, बौद्धिक—सभी अवस्थाओं पर उन्होंने प्रकाश डाला है। अपितु सामाजिक दुरवस्था ने उन्हें लिखने को विवश किया है।

“जो इस विषय पर आज कुछ करने चले हैं हम यहाँ
क्या कुछ सजग होंगे सखे ! उसको सुनेंगे जो जहाँ ?”

भारतवर्ष को गुप्त जी ने “भूलोक का गौरव” और “प्रकृति का पुन्य लीला स्थल” कहा है जिसका संपूर्ण देशों से अधिक उत्कर्ष है। विधाता ने नर सृष्टि का विस्तार पहले यहीं किया :—

१. आर्यः--

“यह पुण्य भूमि प्रसिद्ध है, इसके निवासी आर्य हैं
विद्या, कला कौशल्य सबके जो प्रथम आचार्य हैं--”

हमारे पूर्वज संसार के लिए श्रेष्ठ और वरेण्य थे, अपने धर्म पर तृण समान
शरीर निछावर कर देते थे । सतोष शांति पूर्ण उनका जीवन था, दुःख तृष्णा की
आतियों से वे निरन्तर दूर रहते थे, स्वर्ग लोक-भूलोक उनके लिए समान था--

“इस लोक में उस लोक से वे अल्प सुख पाते न थे
हँसते हुए आते न थे, रोते हुए जाते न थे !”

वे न तो ईश नियमों की कभी अवहेलना करते थे, न सन्मार्ग में चलते
हुए विघ्नों से डरते ही थे । अपने स्वार्थ में दूसरों की हानि उनका लक्ष्य नहीं था ।
उन्होंने ज्ञान विज्ञान में उन्नति की, एक से सिद्धांत थे, वे आर्य अपनी संस्कृति की
ध्वजा लेकर दूर-दूर उपनिवेशों तक गये थे :--

“ये मोह बन्धन मुक्त थे, स्वच्छन्द थे स्वाधीन थे
सम्पूर्ण सुख संयुक्त थे, वे शान्ति शिखरासीन थे
मन से, वचन से, कर्म से वे प्रभु भजन में लीन थे
विख्यात ब्रह्मानन्द-नद के वे मनोहर मीन थे.....
वे आर्य ही थे जो कभी अपने लिए जते न थे
वे स्वार्थ रत ही मोह की मदिरा कभी पीते न थे
संसार के उपकार हित जब जन्म लेते थे सभी
निश्चेष्ट होकर किस तरह वे बैठ सकते थे कभी ?”

वाल्मीकि-वेदव्यास जैसे कवि; पुरु, भरत, रघु जैसे लोक नायक; शिव
हरिश्चन्द्र, दधोचि जैसे दानी; प्रह्लाद ध्रुव, कुश, लव जैसे बालक; अनुसूया,
सावित्री, दमयन्ती जैसी स्त्रियाँ भारतीय संस्कृति का प्रतिनिधित्व करती थी ।

२. सभ्यता—भारतीय सभ्यता ही संसार में सबसे पहले उच्च थी ।
अन्य देशों ने आचार व्यापार, व्यवहार, विज्ञान शिक्षा यहीं से प्राप्त की । प्रसाद
की भी यही मान्यता है :—

“हिमालय के आँगन में उसे प्रथम किरणों का दे उपहार
 उषा ने हँस अभिनन्दन किया और पहनाया हीरक हार
 जगे हम, लगे जमाने विश्व, लोक में फैला फिर आलोक”

व्योम तम पुंज हुआ तब नाश, अखिल संसृति हो उठी विशोक

भारत में गुलाम प्रथा नहीं थी, व्यवस्था में छोटों को भी प्रेम द्वारा उठाते थे, सृष्टि की उत्पत्ति-सहार के रहस्यों से परिचित थे, हमारे सिद्धांत ही आज के वैज्ञानिक सही मान रहे हैं: —

“है हानिकारक नीति निश्चय निवृत्त कुल में व्याह की
 है लाभ कारक रीति शव के गाढ़ने से दाह की!”

भारतीय संस्कृति के चिन्ह आज अमेरिका तक में मिल रहे हैं। वर्तमान युग में भी विवेकानन्द जैसे पुरुष वैदिक ज्ञान की श्रेष्ठता तर्क के आधार पर प्रमाणित करते हैं—पश्चिम का ईसाई धर्म भी बौद्ध साँचे में ढला है :—

“योरोप भी जो बन रहा है आज कल मार्मिक मना
 यह तो कहे उसके खुदा का पुत्र कब धार्मिक बना ?
 या हिन्दुओं का शिष्य ईसा यह पता भी है चला
 ईसाइयों का धर्म भी है बौद्ध साँचे में ढला !”

मानव जाति के जितने भी सिद्धांत थे भारतीय तपोवनों में पहले पहल निश्चित हुए थे :—

“हम वेद वाको वाक्य-विद्या ब्रह्म विद्या विज्ञ थे
 नक्षत्र विद्या, क्षत्र विद्या, भूत विद्याऽभिज्ञ थे
 निधि, नीति विद्या, राशि विद्या, पिञ्ज विद्या में बढ़े
 सपीढ़ि विद्या, देव विद्या, दैव विद्या थे पढ़े !”

योग साधना में भी भारतीय पीछे नहीं थे। शून्य में स्थिति रह करभी, भोजन न मिलने पर भी समाधिस्थ होकर देह परिवर्तन कर लेते थे :—

“हाँ, वह मनः साक्षत्व विद्या की विलक्षण साधना
 वह मेस्मरेजिम की महत्ता, प्रेत चक्राराधना

आश्चर्य कारक और भी वे, आधुनिक बहु वृद्धियों
कहना वृथा है, हैं हमारे योग की लघु सिद्धियाँ !”

३. ज्ञान विज्ञान—भारतीयों की साहित्यिक, राजनैतिक और पारिवारिक स्थिति कैसी थी ? नार वेद, उपनिषद्, सूत्र ग्रन्थ, दर्शन, गीता का निष्काम कर्म योग, संहिताएँ, स्मृतियाँ, व्याकरण, तर्क, नीति शास्त्र—भारत की निधियाँ हैं। ज्योतिष में आकाश की गणना, क्रांतिमण्डल, अकगणित में दशमलव का सिद्धांत-रेखागणित में सुल्ल सूत्र; सामुद्रिक और फलित ज्योतिष आर्य संस्कृति की देन हैं। आसुरी चिकित्सा, भस्म, रसादि योग आयुर्वेद के गौरव हैं।

४. कला कौशल—कला कौशल में भी भारतीय पीछे नहीं रहे। पाण्डवों का मय कृत भवन, दक्षिण के मन्दिर, दिल्ली में लोहे का खम्भा, जो अब भी वैसा ही है—मूर्ति निर्माण चित्रकारी संगीत और अभिनय में उनकी महत्ता स्पष्ट होती है। अवशमेध, राजसूर्य जैसे यज्ञ, शब्द भेदी वाण छोड़ने वाले, वीर, भीम अर्जुन जैसे शक्तिशाली यही उत्पन्न हुए थे और—

“जिसके समक्ष न एक भी विजयी सिकन्दर की चली
वह चन्द्रगुप्त महीप था कैसा अपूर्व महाबली ?
जिससे कि सिल्यूकस समर में हार तो था ले गया
कान्धार आदिक देश देकर निज सुता भी दे गया—
रक्तक यवन साम्राज्य के भी राजपूत रहे यहां
पड़ती कठिनता थी जहां जाते, वही तो थे वहाँ
नृप मान कृत काबुल विजय की बात सबको सात है
दृढ़ता शिवाजी के निकट जयसिंह की विख्यात है।”

५. वीर शासक—इसी तरह भारतीय शासक भी विरक्त रह कर विदेह जैसे शानी थे, वे राजकार्य ‘प्रजा’ की भलाई के लिए ही करते थे, प्रजा शब्द का अर्थ ही उनके लिए “संतान” था जो समाज हित के लिए पुत्र निष्काशन से भी नहीं डरते थे। महाराजा सगर ने अशमंजस को निकाल दिया। तभी वे शासक ढंके की चोट कह सकते थे—

“हैं मद्यपी कायर न मेरे राज्य में तस्कर कहीं
व्यभिचारिणी तो फिर कहीं जब एक व्यभिचारी नहीं—
यों सत्यवादी नृप बिना संकोच कहते थे यहाँ
कोई बता दे विश्व में शासक हुए ऐसे कहीं ?”

६. दिनचर्या:—स्नान के उपरांत, लोग यथाक्रम दान करते थे, स्त्रियों दूध दुहती थी, पुरुष होम क्रिया में लग जाने थे। नर-नारी देवालयों में दर्शन, श्रवण-कीर्तन आदि भक्ति की पद्धतियों द्वारा अपने आराध्य का गुण-गान किया करते थे। अतिथि-सत्कार उनका कर्तव्य था। स्त्रियों घर की संपूर्ण व्यवस्था करती थीं :—

“घर का हिसाब किताब सारा है उन्हीं के हाथ में
व्यवहार उनके हैं दयामय सब किसी के साथ में
वे पाक शास्त्र विशारदा है और वैद्यक जानतीं
सबको सदा सन्तुष्ट रखना धर्म अपना मानती !”

इस कारण उनकी सताने भी समयी परिश्रमी होती थी। वे गुरुकुल में शिक्षा ग्रहण करते थे और ब्रह्मचर्य का पूरा पालन करते थे। शिक्षा अनिवार्य थी :—

“हैं खोजने से भी कहीं द्विज मूर्ख मिल सकते नहीं
अनिवार्य शिक्षा के नियम है जो कि हिल सकते नहीं
यदि में गांव द्विज एक भी विद्या न विधि पूर्वक पढ़े
तो दण्ड दे उसका नृपति, फिर क्यों न यों शिक्षा बढ़े ?”

सब में परस्पर प्रेम भाव था, निष्कपट व्यवहार था :—

“ठग और चोर कहीं नहीं हैं धर्म का अति ध्यान है
देखे न देखे और कोई देखता भगवान है
सूना पड़ा हो माल कोई किंतु जा सकता नहीं
कोई प्रलोभन शांत मन का है भुला सकता नहीं !”

७. अवनति—फिर भारतीय संस्कृति व सभ्यता की अवनति होने लगी।

महाभारत जैसे युद्ध हुए, अनाथों का आक्रमण हुआ। बौद्ध काल में विदेशी यात्रियों को भारतीय सभ्यता के अवशेष देखकर आश्चर्य होता था। अशोक, गुप्त शासकों के समय पुनः भारतीय संस्कृति व्यापक हुई। विक्रमादित्य, भोज जैसे संरक्षक हुए। बाद में पारस्परिक द्वेष, फूट से भारत खण्ड-खण्ड हो गया—

“आचार और विचार तक ही यह विभेद बढ़ा नहीं
बहु भिन्न भाषाएँ हुईं फैली विषमता सब कहीं
आलाप करना भी परम्पर क्लेष हमको हो गया
निज देश में ही हा विधे ! परदेश हम को हो गया !”

इन विषमताओं के समय मुसलमानी आक्रमण ने भारतीय सभ्यता को और धक्का पहुँचाया। यवनो ने आरम्भ में इस्लामी जोश दिखाया, तलवार के बल पर अपनी शक्ति—धार्मिकता फैलाने का प्रयत्न किया। धीरे-धीरे वे भी भारतीय वातावरण के अनुकूल होते गए। अकबर के दरबार में राजपूतों का मान था। भाव भी फली फूली और तुलसी-रसू जैसे हिन्दी के महाकवि हुए। औरंगजेब ने धार्मिक कट्टरता दिखाई तो चारों तरफ सिलख, सतनामी, जाट, मराठे, बुन्देले सिर उठाने लगे। इतिहास में भारतीयों के लिए यह पराधीनता का समय था अवश्य पर हिन्दू अपनी मान मर्यादा भूले नहीं थे, राजपूत की मोछ को नोक अब भी नुकीली रहती थी। राणा प्रताप, शिवाजी जैसे हिन्दू संस्कृति के उन्नायक हुए और—

“चित्तौर चंपक ही रहा यद्यपि यवन अलि हो गए
धर्मार्थ हल्दी घाट में कितने सुभट बलि हो गए !
‘कुल मान जब तक, प्राण तब तक. यह नहीं तो वह नहीं’
मेवाड़ भर में वकूताएँ गूँजती ऐसी रहीं !
विख्यात वे जौहर यहाँ के आज भी हैं लोक में
हम मग्न हैं उन पद्मिनी सी देवियों के शोक में !”

यवन राज्य के समाप्त होने पर ब्रिटिश राज्य आया। गुप्त जी ने इसे ईश्वर की देन माना है जो यवनों के प्रतिकार के रूप में भेजा गया। उसे

“सुव्यवस्थिति”, “आशा प्रपूर्णा” और “वदान्य” माना है। भारतीयों के अंधकार निराशा में लीन होने पर भी राममूर्ति, मास्टर मदन जैसे व्यक्ति उत्पन्न हुए हैं।

इस प्रकार ऋग्वेद काल से लेकर आधुनिक काल तक गुप्तजी ने भारतीय संस्कृति का व्यापक सर्वे किया है, तब ‘वर्तमान खण्ड’ में वर्तमान दयनीय दशा देख कर उसने आसू बहाए हैं। ‘भारत भारती’ की एक प्रमुख विशेषता यह भी है कि भारतीय संस्कृति सभ्यता के उदाहरण देते हुए उसने कुछ नोटों, संकेतों के रूप में इतिहास, विद्वानों के तर्क, विचार, उद्धृत कर अपने कथन की पुष्टि की है।

‘साकेत’ तो भारतीय सभ्यता और संस्कृति का प्रतिनिधित्व करता ही है। गुप्त जी ने उमिला का उद्धार किया तो संस्कृति का भी उद्धार किया। मैं तो सोचता हूँ उन्होंने ‘भारत भारती’ में जिन आदर्शों की व्याख्या की थी, यहाँ व्यवहारिक जगत में उन्हें मूर्त रूप दे दिया है। पात्र उन तत्वों को अपने मानव जीवन द्वारा प्रस्तुत करते हैं। इसका पहला प्रमाण तो राम द्वारा आर्य संस्कृति की स्थापना ही है:—

“आर्य सभ्यता हुई प्रतिष्ठित
आर्य धर्म आश्वस्त हुआ !”

१. जीवन क्षेत्र:—‘साकेत’ में जीवन का आदर्श है त्याग और कर्म जो प्राचीन भारतीयों का भी आदर्श था—

(१) “त्याग और अनुराग चाहिये बस यही”

(२) भूल जयाजय और भूल कर जीना मरना
हम को निज कर्तव्यमात्र है, पालन करना”

(३) अलक्ष की बात अलक्ष जानें
समक्ष को ही हम क्यों न मानें ?
रहे वहीं प्लावित प्रीति-धारा
आदर्श ही ईश्वर है हमारा ।,,

आर्यों की तरह जीवन में भुक्ति-मुक्ति का समन्वय और मर्यादा पालन भी आवश्यक है। गौरव और मुख परसेवा द्वारा ही प्राप्त होता है। सब धर्मों का एक मात्र सार सत्य है। हमें फल की चिन्ता न कर कर्म पर ध्यान रखना है।

(१) “सखे समन्वय करो भुक्ति का मुक्ति से”

(२) “जितने प्रवाह हैं वहे अवश्य वहे वे
निज मर्यादा में किंतु सदैव रहें वे !”

(३) गौरव क्या है ? जन भार वहन करना ही
सुख क्या है ? बढ़कर दुःख सहन करना ही !”

(४) सत्य से ही स्थिर है संसार
सत्य ही सब धर्मों का सार ।”

(५) “यात्रा में उत्साह योग ही मुख्य शकुन है—
फल की चिन्ता नहीं, धर्म की हमको धुन है !”

जहां तक स्वतन्त्र चिंतन और मत निर्धारण का प्रश्न है चित्रकूट में स्वयं राम ने कहा है—

“मत की स्वतन्त्रता विशेषता आर्यों की
निज मत के ही अनुसार किया कार्यों की !”

२. धार्मिक क्षेत्र—राम का अवतार भू भार को हरने के लिये हुआ है, पण्डितों का संहार उसका उद्देश्य है। हम लोग प्राचीन आदर्श भूलते जा रहे थे, पुनः उन आदर्शों पर हमें प्रतिष्ठित करने आए हैं कि वेदों की वाणी पुनः ज्वालिरी हो। व्रत-उपासना आदि धार्मिक कृत्यों का उल्लेख शत्रुघ्न, उर्मिला, कई स्थानों पर किया है। उर्मिला तो मानस-रूपी मन्दिर में ही पति की प्रतिमा प्रतिष्ठित कर स्वयं आरती बन कर विरह में जलती रहती है ? एक स्थान पर पशु लीला का विरोध भी प्रकट किया है—

“तेरे आयुध यहाँ दीन पशु मार रहे हैं—

तब है तेरा कपट मात्र यह देवाराधन ।”

‘कामायनी’ की श्रद्धा को भी मनु द्वारा पशु यज्ञ अच्छा प्रतीत नहीं होता।

३. सामाजिक क्षेत्र— समाज में वे भोग-योग केस मन्वय से शांति-सुख की कामना करते हैं। जब व्यक्ति समाज के लिए अपना स्वार्थ त्याग देगा, तभी सन्तोष फैल सकेगा। सेवा, त्याग और वात्सल्य का आदर्श उन्होंने अयोध्या के पारिवारिक जीवन में किया है। गुप्त जी को तो कौटुम्बिक कवि कहना चाहिए।

“हम हों समष्टि के लिए व्यक्ति बलिदानी।” प्रथम सारि में नागरिकों का जीवन इसी के अनुरूप है। उनका वैभव रहने दीजिए, गाहीस्सिक सौंदर्य देखिए। अयोध्या पृथ्वी की अमरावती क्यों हो गई है? सुर-सरिता से सरयू की महत्ता क्यों बढ़ गई है? इसलिए कि—

“एक तरु के विविध सुमनों से खिले
पौर जन रहते परस्पर हैं मिले
स्वस्थ, शिद्धि, शिष्ट, उद्योगी सभी
बाह्य भोगी, आंतरिक योगी सभी
व्याधि की बाधा नहीं तन के लिए
आधि की शंका नहीं मन के लिए
चोर को चिन्ता नहीं धन के लिए
सर्व सुख हैं प्राप्त जीवन के लिए !”

प्रत्येक के आगम में शिशु कलित क्रीड़ाएँ करते हैं और अश्व गौशालाएँ हैं है तब—

“नागरों की पात्रता नव नव कला
क्यों न दे आनन्द लोकोन्तर भला ?”

यह पूर्ण रामराज्य की कल्पना गुप्त जी ने ‘साकेत’ के आरम्भ में ही की है न तो रीतियाँ हैं, न भीतियाँ! यही तुलसी का सामाजिक आदर्श—

दैहिक, दैविक, भौतिक तापा
रामराज्य काहुँहि नाहि व्यापा !”

स्वयं राम के परिवार में पति-पत्नी, पिता-माता पुत्र-वधू, स्वामी-सेवक हैं जिनके पारस्परिक व्यवहार आदर्श प्रस्तुत करते हैं। दाम्पत्य जीवन का माधुर्य

राम-सीता, उर्मिला लक्ष्मण के संयोग-पक्ष द्वारा व्यक्त है। उर्मिला पुरुष का महत्व स्पष्ट करती है :—

“खोजती हैं किंतु आश्रय मात्र हम
चाहती हैं एक तुम सा पात्र हम।”

तो लक्ष्मण प्रेयसी संसर्ग का गुणगान करते हैं—

“प्रेयसी, किसके सहज संसर्ग से
दीखते हैं प्राणियों को स्वर्ग से ?”

छोटे भाई का बड़े भाई पर जन्मजात अधिकार होता है इसी भावना में लक्ष्मण कभी राम का विरोध भी कर बैठते हैं, आलोचना तो करते ही हैं यहा तक कि राम को उन्हें चुप कराना पड़ता है। भरत की “भायप भगति” चित्रकूट में व्यंजित है।

समाज में सम्यक व्यवस्था के लिए परहित की भावना रहनी चाहिए—” है औरों की भी भार-भारिणी भारिणी ! ” गुप्त जी ने वर्ण व्यवस्था, आश्रम धर्म का महत्व स्वीकार किया है। शूद्रों तक का तिरस्कार नहीं। राम केवट का सत्कार भाई के समान करते हैं। तुलसी ने भी कहा था—

‘सब नर करहिं परस्पर प्रीती...’

“सब उदार सब पर उपकारी...”

४. रीति-नीति-प्रथाएं—पातिव्रत, एक पति व्रत का आदर्श प्रस्तुत किया है—

“यदि सीता ने एक राम को ही वर माना
यदि मैंने निज बधू उर्मिला को ही जाना...”

शिष्टाचार का बड़ा ध्यान रखा गया है। गुरुजनों से, छोटे से, बराबर वालों से सम्बोधन भी अलग हैं। ऋषि, विद्वान, अतिथियों का आदर सत्कार होता है। ‘तात’, ‘आर्या’, ‘आर्य पुत्र’ आदि शब्द रीति प्रथा के ही सूचक हैं। भारतीय परम्परा में स्त्री पति का नाम नहीं लेती। ग्राम बधुओं द्वारा पूछे जाने पर सीता असमंजस में पड़ गईं ? कैसे अपना उनसे सम्बन्ध व्यक्त करे ? गुप्त जी की सीता

ने तो कह किया “गौरे देवर, श्याम उन्ही के ज्येष्ठ है !” काम तो चल गया लेकिन इस परिचय में आत्मीयता, मधुरता नहीं है। तुलसी की सीता को देखिए जो इसी प्रसंग पर कैसे भावों, मनुभावों द्वारा रसात्मक रूप से अपने राम का परिचय कराती है :—

“सुनि सुन्दर बैन सुधारस साने समानी है जानकी जान भली
तिरिछे करि नैन, बै सैन तिन्हें, समुझाइ कछु मुसकाइ चली
तुलसी तैहि औसर सोहैं सबै अबलोकन लोचन बाह् अली
अनुराग तड़ाग में भानु उदै बिकसी मनु मन्जुल कन्ज-कली !”

निषाद अपने शिष्याचार के अनुकूल हाथ जोड़कर खड़ा होता है। रघुवंश की परम्परा का उल्लेख भी है जिसमें प्राण चाहे चले जाँय, पर बचन नहीं मिटना चाहिए :—

‘पर रघुकुल में जो वचन दिया जाता है
वह लौटा कर फिर कहाँ लिया जाता है ?’

गौरव, परम्पराएँ, विश्वास—सब इसी आधार पर हैं। वीरों को बिध्याचल, हिमालय का मस्तक ऊँचा रखना है। सती, स्वयंवर, उपवास पर भी प्रकाश डाला है। योग दृष्टि का उपयोग मुनि बशिष्ठ करते हैं जो अयोध्यावासियों को घर बैठे बैठे युद्ध दिखा देते हैं तो श्राप, सौगन्ध की चर्चा भी की गई है। कौशल्या अपशकुन से चितिति होती है तो उर्मिला शकुन से प्रफुल्लित :—

(१) “पर यह मेरा दक्षिण नेत्र फड़कता है।”

(२) “फड़क रहा है वाम नेत्र उच्छ्वसित हृदय !”

भरत द्वारा दशरथ का शव दाह भी राजसी राति के अनुसार होता है। मुनि ने पहले तेल में रखा दिया था, अब भरत के आ जाने पर “राम नाम सत्य है” की गूँज से लोक-पारावार उमड़ आता है। शव यात्रा तथा विधि सहित अंतिम संस्कार देखिए :—

आज नरपति का महा संस्कार...
कुल पुरोहित और कुल आचार्य

भरत युत करने लगे सब कार्य...
अगरू चन्दन की चिता थी सेज
राज शव था सुप्त, संयत तेज...
फिर प्रदक्षिण, प्रणति जम जय कार
सामगान समेत शचि संस्कार
बरसता था घृत तथा कपूर..."

५. भौतिक जीवन—सुख समृद्धि, शांति प्रत्येक प्राणी के घर में है।
नगर वर्णन के उपरांत गुप्त जी ने शौर्य, कर्तव्य परायणता का उल्लेख किया है।
नाना प्रकार के ऊँचे भवन, स्वच्छ, सुन्दर और बिस्तृत घर, इन्द्रधनुषाकार
तोरण देवताओं को भी आर्कषित करते हैं। फूल पत्तों की चित्रकारी ऐसी है मानो
प्रकृति ने स्वयं गढ़ दिए हों। छुज्जों के नीचे कतवूर पले हुए हैं मोर हैं आमोद
प्रमोद की कोई न्यूनता नहीं। राजा के महल शिल्प कौशल के पास आदर्श हैं
स्थान स्थान पर यज्ञ के खम्भे गढ़े हुए हैं जिन पर प्रशास्तियों, ऐतिहासिक वृत्त
खुदे हुए हैं। यन्त्र तत्र विशाल कीर्ति स्तम्भ गौरव भावना भरते हैं :—

“देख लो साकेत नगरी है यही
स्वर्ग से मिलने गगन में आ रही
केतु पट अञ्चल सदृश है उड़ रहे
कनक कलशों पर अमर दग जुड़ रहे...

दृष्टि में वैभव भरा रहता सदा
घ्राण में आमोद है बहता सदा
ढालते हैं शब्द श्रुतियों में सुधा
स्वाद गिन पाती नहीं रसना क्षुधा...

ठाठ है, सर्वत्र घर या घाट है
लोक लक्ष्मी श्री विलक्षण हाट है।
सिद्ध, शिजित पूर्ण मार्ग अकाट्य हैं
घर सुघर नैपथ्य, बाहर नाट्य हैं !

६. राजनैतिक क्षेत्र—राजा प्रजा का घनिष्ठ सम्बन्ध व्यक्त किया गया है। एक तो शासक निरंकुश नहीं। पुरोहित, गुरु, मन्त्री की मंत्राणानुसार कार्य करता है, शासन उस पर भी है।

“शासन सब पर है इमे न कोई भले
शासक पर भी, वह भी न फूल कर ऊले !”

गुप्त जी ने भी रामराज्य की कल्पना की है :—

“अलग रहती हैं सदा ही रीतियाँ
भटकती हैं शून्य में ही भीतियाँ
नीतियों के साथ रहती रीतियाँ
पूर्णा हैं राजा प्रजा की प्रीतियाँ !”

भारतीय राज्य की रीति भी व्यक्त है कि ज्येष्ठ पुत्र ही राजगद्दी का अधिकारी होता है :—

‘मुकट है ज्येष्ठ ही पाता हमारा !’

अनेक शासन सत्ताएँ स्थापित होने पर राष्ट्र विच्छिन्न हो जाता है :—

“एक राज्य न हो बहुत से हो जहाँ
राष्ट्र का बल बिखर जाता है वहाँ !”

बिदारी ने भी एक दोहा लिखा है—

दुमह दुराज प्रजान कौं क्यों न बदे दुख द्वन्द
अधिक अंधेरो करत जग, मिलि मावस रवि चन्द !”

७. प्राचीन गौरव—गुप्त जी ने ‘साकेत’ में समय मिलने पर मध्याकालीन भारत के आदर्श भी प्रस्तुत किए हैं। वैदिक काल से लेकर आज तक क सांस्कृतिक विशेषताओं का उल्लेख है। स्त्रियों का वीरत्व, योद्धाओं के आदर्श वहीं हैं जो ‘भारत भारती’ में व्यक्त किए गए हैं। अंतर केवल इतना है कि यहाँ काव्य रूप जीवन जगत के व्यक्त क्षेत्र में उनका पालन कर दिखाया गया है। कौशल्या ने एक जगह सती होने का उल्लेख किया है। लक्ष्मण के मूर्छित होने की सूचना पर साकेतका पत्ता-पत्ता सजग होजाता है। क्या कोई माण्डेलिका सहसा

विद्रोही हो गया है ? स्त्री स्वयं पुरुष वेष में साथ चलने की प्रार्थना करती है तो पुत्र भी पैर पीछे न रखने का गर्व करता है । रात्रि में जागने से उनकी तैयारी कितनी स्फूर्ति प्रद है ।

“चंचल जल-थल-बलाध्यक्ष निज दल सजते थे
भन भन घन घन समर वाद्य बहु विधि बजते थे
पाल उड़ाती हुई पंख फैला कर नावें
प्रस्तुत थीं कब किधर हंसिनि सी उड़ जावे...
दृग असमय उन्निद्र और भी अरुण हुए थे
प्रौढ़ जरठ भी आज तेज से तरुण हुए थे...
मारो मारो जहाँ वैरिओं को तुम पाओ
मर मर भी उन्हें प्रेत हो कर जल जाओ !”

रनिवास में सुमित्रा तो केवल युद्ध पथ के लिए अपने पुत्रों को प्रेरित करती है :—

“जा भैया आदर्श गए तेरे जिस पथ से
कर अपना कर्तव्य पूर्ण तू इति तक अष से ।”

तो कैकेयी स्वयं जाने को उद्यत हो जाती है

“भरत जाएगा प्रथम और यह मैं जाऊंगी
ऐसा अवसर भला दूसरा कब पाऊँगी ?”

और उर्मिला तो साक्षात् युद्ध लक्ष्मी के रूप में आती है :—

“मातृभूमि का मान ध्यान में रहे तुम्हारे
लक्ष लक्ष भी एक लक्ष्य रखो तुम सारे...
विंध्य हिमालय भाल भला भुक्त जाय न वीरो
चन्द्र-सूर्य-कुल-कीर्ति-कला रुक जाय न वीरो
चढ़ कर उतर न जाय सुनो कुल मौक्तिक मानी
गंगा, यमुना सिंधु और सरयू का पानी
बढ़ कर इसी प्रसिद्ध पुरातन पुण्य स्थल से
किए दिग्विजय बार बार तुमने निज बल से...”

विश्वास, सहिष्णुता, सेवा, श्रेष्ठता का सर्वत्र मुक्त कण्ठ से उल्लेख हुआ है स्वयं राम का आदर्श है :—

“मैं यहाँ जोड़ने नहीं बाँटने आया !”

इस प्रकार ‘साकेत’ भारतीय सस्कृति का प्रतिनिधित्व पूरी तरह करने में सफल हुआ है ।

‘यशोधरा’ में भी इसकी पूरी झलक है । भारतीय नारी का रूप “दूध” और “पानी” में ही प्रकट हो गया है । यशोधरा द्वारा नारी की महत्ता, मान्यता, कर्तव्यपरामर्शता, सहनशीलता आदि गुणों को व्यक्त किया है । उसका पारिवारिक जीवन हिन्दू परिवार का जीवन है और उसका व्यक्तिगत जीवन हिन्दू नारी की निरंतर साधना-तपस्या की कथा ।

१. मानव कल्याण—हिन्दू संस्कृति हमेशा मानव कल्याण के लिए सचेष्ट रही है । गौतम का गृह त्याग ससार को कष्टों से मुक्ति दिलाने के लिए ही है । वे बोध उत्तरदायित्व के डर का भाग नहीं रहे हैं । ससार के रोग शोक, लोभ-मोह, योग-वियोग सब क्षण भंगुर हैं । रूप सौंदर्य, विषयो में परितुष्टि, राग द्वेष सब क्षणिक हैं मृत्यु अवश्यभावी है । इसी रहस्य को सुलभाना है :—

“क्या भाग रहा हूँ भार देख ?
तू मेरी ओर निहार देख ?
मैं त्याग चला निस्सार देख
अटकेगा मेरा कौन काम ?...

मैं सुँघ चुका वे फुल्ले फूल
झड़ने को हैं सब झटित भूल
चख देख चुका हूँ मैं समूल
सड़ने को ब अखिल आय ?...

मैं त्रिविध दुःख विनिवृत्ति हेतु
बाँधू अपना पुरुषार्थ—सेतु

सर्वत्र उड़े कल्याण—केतु
तब है मेरा सिद्धार्थ नाम !...

तब जन्म-भूमि तेरा महत्व
जब मैं ले आऊँ अमृत तत्व
यदि पा न सके तू सत्य-सत्त्व
तो सत्य कहाँ ? भ्रम और भ्राम !...

वह जन्म मरण का भ्रमण-भाण
मैं देख चुका हूँ अपरिमाण
निर्वाण हेतु मेरा प्रमाण
क्या वात-वृष्टि, क्या शीत-धम !..”

इसी “सिद्धि हेतु” पर यशोधरा भी अपने को गौरवान्वित समझती है अतः गौतम को खोजने के प्रस्ताव से सहमत नहीं होती क्योंकि उन्हें लौटाने का तात्पर्य होगा कल्याण से विरत करना। राहुता को भी यही समझती है। उन्होंने सृष्टि से नाता जोड़ लिया है :—

“हृदय विशाल और उनका उदार है
विश्व को बनाना चाहता जो परिवार है।”

२. त्याग-सहानुभूति—उर्मिला को जिस प्रकार कौशल्या आदि की सवेदना प्राप्त है, उसी प्रकार यशोधरा की शुद्धोदन, प्रजावती व गृह दासियों द्वारा सात्वना मिलती है। वे सीता, गोपियों आदि की विरह कथा सुना कर उसे धैर्य बँधाती हैं। शकुन्तला, दमयन्ती आदि ऐतिहासिक गाथाओं से अतीत सभ्यता हमारी आँखों के सामने घूम जाती है। राहुल कथाएँ सुन कर पृच्छता है :—

“किन्तु धीर है तो अब वे क्यों ध्यान करेंगे ?
वन में तो इन्द्र भी प्रलोभन दिखाएगा
विश्वामित्र तुल्य उन्हें क्या वह न भाएगा ?
मुझको तो वसमें भी लाभ दृष्टि आता है
भगिनी शकुन्तला सी राहुल सा भ्राता है

मेनका तो वन्चिका थी, तू फिर भी उनकी
और रहो चाहे जहाँ, सिद्धि तो है धुन की ! ”

इसी तरह “नन्द तुम्हारी थाती पर देगा सब कुछ वार-” भी प्राचीन इतिहास का बोध कराता है ।

३ कर्तव्य भावना—नारी पुरुष की जय यात्रा में बाधक कभी नहीं बनी । लेकिन गौतम “चोरी चोरी” चले गये, यशोधरा का वीरत्व, निर्भयता, सहिष्णुता नहीं समझ सके । नारियों तो :—

“स्वयं सुसज्जित करके क्षण में
प्रियतम को प्रणों के प्रण में ।”

क्षात्र धर्म के लिए युद्ध क्षेत्र में भेज देती थी । वह मोक्ष से भी गार्हस्थ जीवन श्रेष्ठ समझती है क्योंकि तभी कर्तव्य पथ पर सफलता मिल सकती है :—

“निज बन्धन सम्बन्ध सयत् बनाऊँ
कह मुक्ति भला, किसलिए तुझे मैं पाऊँ ?”

नन्द, शुद्धोदन—सब कर्तव्य भावना से प्रेरित हैं यहाँ तक कि बालक राहुल भी पिता के प्रति अपने कर्तव्य को समझता है :—

“व्यर्थ गल गया मेरा रसाल
मैंने स्वयं नहीं चखा था
माँ चुन कर सौ सौ में इसे
पिता के लिए बचा रखा !”

तो भी यशोधरा सखी से कैँची लाने को कहती है—वह सिर के बाल क्यों पाले ? भारतीय नारी का गौरव क्या है ? पति उसका सुहाग, हाथों में चूड़ियाँ और गोद में पुत्र :—

“चार चूड़ियाँ ही हाथों में पड़ी रहें चिरकाल—
बस सिन्दूर बिन्दु से मेरा जगा रहे ये भाल !”
यही गुप्त जी ने ‘साकेत’ में कहा है :—

“मेरी यही महामति है
पति ही पत्नी की गति है !”

४. वासना रहित प्रेम—पति पत्नी का सम्बन्ध भारतीय परम्परा में शारीरिक भूख बुझाने के लिए नहीं, आत्मोत्सर्ग के लिए है उसका सच्चा योग तो वियोग में ही होता है, वह अपने त्याग से प्रेमी को सन्तुष्ट रखता है। अपने अस्तित्व को दूसरे में मिला देने की उदान्त भावना यशोधरा में परिलक्षित होती है। आर्य पुत्र की परीक्षा तो हो चुकी, अब उसकी बारी है, उसे किसी की दया नहीं चाहिए, आज तो विधाता ने “यधू वश” की लाज ही उस पर डाल दी है। यहाँ यशोधरा केवल गौतम की गृहिणी सामान्य नारी न रह कर सारी नारी जाति का प्रतिनिधित्व करने लगी है उसी के द्वारा परीक्षा ली जा रही है तो वह भी समर्थ है :—

“जाओ नाथ ! अमृत लाओ तुम, मुझमें मेरा पानी
चेरी ही मैं बहुत तुम्हारी मुक्ति तुम्हारी रानी
प्रिय तुम तपो, सहाँ मैं भरसक, देखूँ बस हे दानी—
कहाँ तुम्हारी गुण-गाथा में मेरी करुण कहानी ?
तुम्हें अप्सरा-विघ्न न व्यापे यशोधरा कर धारी !”
आर्य पुत्र दे चुके परीक्षा, अब है मेरी बारी !”

५. साधना—चूँकि विरह प्रेम की कसौटी होती है, यशोधरा भी उसकी आँच में खूब तपती है। उर्मिला से उसकी तपन कम नहीं है। उसके प्रिय को तो कम से कम चौदह वर्ष की अवधि निश्चित थी, इसकी वह भी अनिश्चित है। आराध्य लौटें या न लौटें—यशोधरा को तो इसका भी निश्चय नहीं ! इस कारण उसकी विरह-साधना को उर्मिला से श्रेष्ठ मानना चाहिए जिसे न मालूम कब तक एकाकी जीवन नौका का भार वहन करना पड़े। उसके सभी सुख स्वप्न हो गए, मृत्यु ने भी उसका साथ देने से मुख फेर लिया :—

“यह जीवन भी यशोधरा का अंग हुआ
हाथ ! मरण भी आज न मेरे संग हुआ !

सखि, वह था क्या सभी स्वप्न, जो भग हुआ ?
मेरा रस क्या हुआ और क्या रंग हुआ ?”

उसके तो भाग्य में ही रोना था, कर्म का भाग भोगना ही पड़ता है। इंसान, ग्रीष्म आदि ऋतुएँ आती, चली जाती हैं। काली कोयल वेदना को तीव्र कर देती हैं। फलो में फिर बीज आते हैं—पर उसके दिन नहीं फिरे ! जो संयोग स्थल सुख देते थे आज अनाथ हो गए हैं !

“वनका वह कुँज कुटीर वही
झड़ता उड़ अंशु अवीर जहाँ
अलि, कोकिल, कीर शिखी सब है
सुन चातक की रट “पीव कहों ?”
अब भी सब साज समाज वही
तब भी सब आज अनाथ यहाँ
सखि, जा पहुँचे सुध-संग कहीं
यह अन्ध सुगन्ध समीर वहाँ !”

मुझे तो ऐसा लगता है मानो जायसी की नागमनी और सूर की विरहाकुल राधा एक साथ गुप्त जी की यशोधरा में साक्षात् उतर आई हो। उसी प्रकार विरह व्यंजना, भावानुभूति उर्मिला से अधिक सयत, अतः मार्मिक है। इसलिए उर्मिला को विरह वर्णन से मेरी दृष्टि में गुप्त जी को यशोधरा के विरह वर्णन में अधिक सफलता मिली है। स्नेह बना ही जलने के लिए है, जिस तरह भाप उठती है और मेह गिरता ही है। या महादेवी के शब्दों में :—

“विकस मुरझाने को फूल
उदय होता छिपने को चन्द
शून्य होने को भरते मेघ
दीप जलता होने को मन्द...”

६. मातृत्व की भावना—यशोधरा राहुल के बार्तालाप आर्य नारी जीवन के इस पक्ष पर प्रकाश डालते हैं। प्रिय वेदनामे संताप को वह नहीं भूलती।

राहुल 'प्रणाम' कर उसके सामने आता है। उसकी उत्सुकता शांत करके भोजन कराती है, शिक्षा भी देती है कि पुरुषों के लिए स्वावलंबी होना उचित है, राहुल के लिए गुरु भगवान तुल्य है, अच्छे कर्मों की सूची बनवा लेने को कहती है। वह ब्रह्म करता है व्रत करेगा तो यशोधरा समझती है। दोनों की बातचीत द्वारा गुप्त जी माता-पुत्र के सुन्दर व्यवहार आदर्श स्थापित करते हैं। यशोधरा खेलने के खिलौने के साथ राहुल को गौरवता, धार्मिकता की कहानियाँ भी सुनाती है। शिवाजी भी माता ने वचनपन में यही किया था। वस्तुतः माता ही अपने बच्चों का भविष्य बनाती है और बुद्धदेव के लौटने पर उन्हें सौंप देती है :—

“कृतकृत्य हुई गोपा,

पाया यह योग, भोग, अब जा तू
आ राहुल, बड़ बेटा
पूज्य पिता से परंपरा पा तू !”

और राहुल मोंगता है :—

“तात पैतृक दाय दो, निज शील सिखलाओ मुझे
प्रणत हूँ मैं इन परो मे, मार्ग दिखलाओ मुझे
असत से सत में, तिमिर से ज्योति में लाओ मुझे
मृत्यु से तुम अमृत में हे पूज्य पहुँचाओ मुझे !”

तमसो मा ज्योतिर्गमय,
असतो मा सद्गमय,
मृत्योर्ममृतांगमय !”

यही भारत का आर्य ऋषि ऋग्वेद काल से मोंगता आ रहा है ? यशोधरा भी उन्हीं की शरण चली जाती है। नारी की महत्ता का स्वयं बुद्धदेव ने स्वीकार किया है।

“दीन न हो गोपे, सुनो हीन नहीं नारी कभी
भूत-दया-मूर्ति वह मन से, शरीर से...”

‘सिद्धराज’ में भी भारतीय संस्कृति की चर्चा कर ली जाय। घटनाएँ ऐतिहासिक हैं लेकिन सत्य है आरम्भ में ही महत्व व्यक्त किया है :—

“स्वप्न नहीं सत्य, किंतु गत वे दिवस हैं
बात यह विक्रमीय द्वादश शताब्दी की
वामा-व्यूह आज हमें जान पड़े सपना
‘देश था स्वतन्त्र तब, राजा आप अपना !”

१. निर्भया—राजमाता मीलनदे अपने स्वाभावानुसार ही उदार, धार्मिक तथा शिक्षित है। जन साधारण से स्त्री भी बात करने में हिचकती नहीं, वह झूठ क्यों बोले ? पुण्य तीर्थ में पाप का बोझ क्यों लादे ? उसका बालक भी राजमाता की नीति की आलोचना करते हुए डरता नहीं, उसका दान भी स्वीकार नहीं करता :—

आपकी दया है देवि, किंतु मेरी माता ने
आप अपना ही सब द्रव्य किया दान है !”

अर्थात् साधारण नागरिक भी खुल कर अपनी आलोचना शासक के सामने प्रस्तुत कर सकते हैं।

२. नीति—मन्त्री कर नीति का समर्थन करते हुए चाणक्य के ‘अर्थशास्त्र’ का संकेत करता है, फिर भी कर लोगो को उतना ही आप्रिय है जितना बलिदान—

“श्री कौटिल्य ने भी निज ‘अर्थ शास्त्र ग्रंथ’ में
पूर्ण प्रतिपादन किया है तीर्थ कर का !”
“श्री कौटिल्य तो थे राजनीतिक ही सर्वथा
किन्तु धर्म यात्रा करने को जारही हूँ मैं”
तो जो चाहिए सो देवि, आज्ञा मुझे दीजिए
पालन करूँ मैं किन्तु प्रार्थना है इतनी—
कर को जो बलि कहते हैं, सो यथार्थ है
बलि है सदैव, कर है कठिन ही—
सहज कीं भी उसे देते, नहीं लोग हैं !”

फिर भी राजमाता राजा को सलाह देना ही उचित समझती है। स्वयं आज्ञा नहीं देती।

३. आत्म सम्मान—नर वर्मा के एका एक आक्रमण पर मन्त्री ने नीति द्वारा उसे लौटा दिया। जयसिंह को यह बात खटकी। मन्त्री ने सोमनाथ का यात्रा-फल उसे दे दिया, तो काट हुआ :—

“बोला वह खिन्न होके मंत्री से—
ठोक नहीं सकते थे यदि उस ढीठ को
तो क्या तुम रोक भी न सकते थे उसको
मेरे यहाँ आने तक ! आह कैसी लज्जा है।”

और अपनी मान रक्षा के लिए नरवर्मा पर चढ़ाई कर देता है। राजदूत का बंधनियम विरुद्ध है :—

“दूत मेरे धैर्य की परीक्षा तुम लेते हो
अपनी अवध्यता की आड़ में खड़े खड़े।”

तो जयसिंह युद्ध भूमि में नरवर्मा की मृत्यु पर अपना प्रतिनिधि भेज कर समवेदना प्रकट करता है :—

“आप जयसिंह को विषाद हुआ सुनके
योग्य शत्रु भी तो नहीं मिलता है सबको
रोक दिया युद्ध, क्रिया होने तक उसने
प्रतिनिधि भेज समवेदना प्रकट की
शत्रु और मित्र दोनों एकसे हैं अंत में।”

इसी आत्म सम्मान की रक्षा के लिए मालवा के वीरों में मंत्रणा होती है अधिकांश सदस्य संधि करने में कोई अनिहित नहीं समझते लेकिन राजपूत शान का, नवीन सम्राट चुने जाने की पद्धति का उल्लेख जदददेव करता है। यदि नरवर्मा मारा गया तो युद्ध क्यों स्थागित किया जाय ?

“पूर्व महाराज गए स्वर्गधाम तो वही
झोड़ गए योग्य उत्तराधिकारी अपना

उज्ज्वल अब भी है चिता भूमि यहाँ उनकी
 होगा समारंभ पूर्ण उनका उन्हीं का सा
 वे गत हुए हैं, किन्तु गौरव है उनका
 हम अपमान होने देंगे नहीं उनका
 शत्रुओं के सम्मुख दिखाकर विवशता ।”

इसी प्रसंग में गुप्त जी ने अपभ्रंश का वह प्रसिद्ध दोहा उद्धृत किया है जिसमें नायिका पति के युद्ध भूमि में वीर गति पाने को अच्छा कहती है ?

जगद्देव ने जयसिंह की युद्ध नीति की प्रशंसा करके भी अपना गौरव नष्ट नहीं होने दिया !

४. विजय के उपहार—जयसिंह की विजय हुई तो पुरस्कार बाँटे गये। सिपायियों को तो भरण-वसन पृथ्वी दी—आशाराज को स्वर्ण कलश भेंट किया, यशोवर्मा को अवन्ती का राज्य दिया और हाथी पर अपने साथ बैठा कर पाटन ले गया। ये वर्णन रीति नीति के द्योतक हैं। लेकिन उदयन ने अपने सम्राट की रक्षा को ध्यान में रख कर ध्यान में काठ की तलवार रख दी थी—

“किन्तु वह खड्ग देख उदयन मन में
 हँसता था, इसमें थी चाल एक उसकी
 शस्त्र-सह पार्श्व में बिठाना निज शत्रु को
 अनुचित जानकर, मणिमय कोष में
 काठ की कृपाण रख दी थी आप उसने
 तो भी सब देखते थे विस्मय से उसको
 पलक भँपा रही थी ध्यान की झलक ही ।”

५. कर्तव्य, आन—खंगार को उत्तराधिकार में पर्वज नवघन का बैर भी लेना पड़ा। वह विग्रह का अवसर खोजने लगा। रानकदे पर जयसिंह की आँख गड़ी थी, उसकी रक्षा में तत्पर हो गया।

“कुछ न सही तो वीरता के एक बाने से
 अबला त्राण करने को बली बाध्य है ।”

पिता विवाह के उपरांत अपनी लड़की के घर पानी तक नहीं पीता—

“शांति अब देगी महाराज तीर्थ यात्रा ही
और राज्य का भी इस अपनी हठीली के
पानी जो न पीना पड़े तो फिर क्या पूछना ?”

मलस्वरूप पुनः युद्ध हुआ। दोनों को अपनी अपनी आन थी, जयसिंह पन्द्रह बरस में हार कर जीता, खंगार भी स्वर्गवासी हो गया पर घुटने नहीं टेके—

“पूरा हुई किंतु वह पन्द्रह बरस में
हार हुई बार बार, तो भी जीत अंत में
दानता सो पूरी करके ही वह मानता
छोड़ना न जानता था वान, यही आन थी !
हारा नहीं अन्त में भी राणा रण-केसरी
टूट गया, किंतु वह अचल लचा नहीं !”

६. पतिपरायणता:—रानकदे के लिए जीवन शून्य हो गया, यही उसके लिए जीवित समाधि हो गई। लेकिन जयसिंह के राजमहल में जाना उसने स्वीकार नहीं किया। यदि विवाह उससे होता तभी पत्नी बन सकती थी, अब तो उसका राज सिंहासन जलती चिता में है। पति से युद्ध किया, ठीक है उनका संबंध है पर पुत्रों की हत्या करना नृशंस है—

“उनका तुम्हारा कुल-बैर, किंतु मुझको
वरण उन्होंने किया, हरण नहीं किया
पाया बल लेके नहीं, अन्तरतल देके ही
वासना नहीं थी वहाँ, उज्जल उपासना !”

अब तो उसके लिए एक ही मार्ग है—

“मेरे लिए एक चिता चुनने की आज्ञा दो
और सिर लाओ मुझे मेरे पवि देव का ।”

७. सम्मान शिष्टाचारः—अणोरिज जयसिंह की माता की मातामह तुल्य मानता है वह समझाती है—तुम दीन न होकर देश पति हो फिर भी विनय का त्याग मत करना क्योंकि “मिष्टाहार से भी इष्ट शिष्टाचार होता है ।” मंत्री महता राजातिथिरूप में उसके निवास की व्यवस्था दुर्ग में ही करता है । कांचनदे इसका योग क्षेम पूछने जाती है, पूज्य जनों को प्रणाम करती है तो वे “सिर पर हाथ फेर” कर उसे प्यार करते हैं, नृपति को मौन नमस्कार करतो है । अणोरिज दूसरे पक्ष के मंत्री तक से राय लेना हितकर समझता है—

“आह ! क्या करूँ मैं मुझे आप ही बताइए
आप राज मंत्री, नाम का ही सही राजा मैं !”

“किंतु महाराज मैं, हूँ मंत्री पर-पक्ष का !”

शत्रु को भी पाप मंत्र शूर नहीं देते हैं

क्रूर कायरों के कर्म होंगे नहीं आपसे !”

“प्रत्यय के योग्य मुझे मानते हैं आप क्या ?”

“व्यक्तिगत भाव से हों भावुक वसी का मैं

होता अविश्वस्त याद अपने विषय में

तो मैं अविश्वास भले आप पर करता !”

यहाँ दोनों ही सँभल सँभल कर अपनी और दूसरे की स्थिति समझ कर बात कर रहे हैं । “आप” शब्द का व्यवहार करते हैं ।

८. सहिष्णुता, प्रजावत्सलता, ऐश्वर्यः—सिद्धराज शिव-शक्ति का भक्त होकर भी धर्म सहिष्णु था । शस्त्र-शास्त्र, तर्क विद्या, मन्त्र क्रीड़ा में समान रुचि लेता था । उसने जैन मंदिरों का उद्धार कराया । खभात के मुसलमानों का अग्नि उपासकों से धार्मिक मतभेद चला आरहा था । एक बार संघर्ष हो गया (यह आधुनिक प्रभाव मालूम पड़ता है) तो सिद्धराज ने स्वयं जाकर खोज की, दोषियों को दण्डित कर सतीत्व को निर्भय किया—

“जाओ डर छोड़ तुम अपनी अजान दो

और गा बजाकर उतारें हम आरती

ऊँचे चढ़ दोनों तुम उसकी अनन्तता
और उसे खोजें हम आप अपने में ही !
कह दो पुकार कर तुम-वह एक है
और उसे पावें हम चाहे जिस रूप में
ईश्वर के नाम पर कलह भला नहीं
देखता है भाव मात्र वह निज भक्त का ।”

एक बार मृगया विहार में जाते समय ग्रामवासी का प्रभाव जानने का प्रयत्न किया । उसने ऋण ही चुकाने की चिंता बताई तो सिद्धराज ने केवल उसका ऋण ही नहीं चुकाया बल्कि पुरस्कार भी दिया—

“कहते हैं उसने प्रजा का ऋण भर के
साका किया और निज संवत् चला दिया !”

उसकी सभा भी गुणियों, धीर वीरों से पूर्ण थी ।

महोबा की ऐश्वर्य प्रसंसा चारण ने की है जो आर्य देश का केन्द्र है, वहाँ के नागरिक पानी नहीं, मान पीते हैं, वायु मण्डल गीत-कवित्तों से गूँजता रहता है, बेदना भी केसर की कटुता जैसी है—

“रीति-नीति प्रीति वहाँ प्रभु की प्रतीति हैं
किन्तु अकर्मण्यता नहीं है भाग्य राने की ”

इसी तरह—

“मंदिरों में दर्शन हों चाहे जिस मूर्ति के
प्रथम प्रतिष्ठा वहाँ होती है कला की ही !
खोद कर शिल्पियों ने हृदय निकाले हैं
कौशलो के विस्फुरण, दृष्टि हो तो देख लो.....”

९. सफलता का रहस्य समन्वयः—सिद्धराज जैसा शासक भी महोबे के अधिपति मदन वर्मा को आश्चर्य से देखता रह जाता है क्योंकि उसमें भोग-भोग दोनों मिले हुए हैं—

“शौर्य में भी, वीर्य में भी इन्द्र है महोबे का
 संगर विनोद, राग रंग मोद दोनों में
 एकसा कुशल है कृती जो गुण गौरवी !
 मन से वरुण है, कुबेर वह धन से
 देता और भोगता है शूर दोनों हाथों से
 रात में भी जागता है, सोती है सुखी प्रजा !”

और सिद्धराज उत्सुकता वश उससे भेट करने चल पड़ता है।

गुप्त जी ने होली के उत्सव में दोनों शासकों को क्रीड़ा मग्न प्रदर्शित किया है—
 भीग गए दोनों एक दूसरे के स्नेह में !” वह सुखपूर्ण जीवन के लिए मदन वर्मा
 को बधाई देता है। दोनों के पारम्परिक वार्तालाप से राज्य संबंधी आदर्श, देश-स्थिति
 का निदर्शन, और वर्तमान स्थिति पर प्रकाश डाला गया है। अतः मदन वर्मा
 अपना अखण्ड विश्वास प्रकट करता है—युग पुरुष होते रहेंगे, आर्य भूमि अन्ततः
 आर्य भूमि ही रहेगी, सब की सस्कृतियों यही आकर एक हो जाएंगी और—

“होगा एक विश्व तीर्थ भारत ही भूमि का !”

मैं सोचता हूँ गुप्त जी ने भारतीय आर्य सस्कृति की झलक ‘साकेत’ के
 अतिरिक्त इतनी समग्र, व्यापक और सफल रूप से सिद्धराज में ही दिखाई है।

‘द्वापर’ में भी गुप्त जी ने कृष्ण, राधा, कुब्जा और गोपियों के जीवन वर्णन
 द्वारा आर्य गुण व्यक्त कराए हैं। सूर की गोपियों की तरह ये उद्धव से कह देती हैं
 ज्ञान नहीं चाहिए—

“हम सौ वर्ष जिएंगी अपनी
 आशा लेकर उर में.....
 हो या न हो सुनो हे ऊधो
 योग क्षेम हमारा
 बना रहे उस निर्मोही पर
 है जो प्रेम हमारा !”

रस भोग के पश्चात् अब वे विष भोग कर भी कैसे सकती हैं ?

‘विधृता’ पुनः नारी जीवन की विडम्बना, हृदय की शुद्धता का स्मरण कराती है।

“नर के बाँटे क्या नारी की नग्न मूर्ति ही आई ?

माँ बेटी या बहिन हाथ क्या संग नहीं वह लाई ?,,

कुब्जा के प्रेम में भी वहाँ सवेदना तथा समर्पण है जो राधा में है ! कृष्ण पर दोनों अधिकार समझती है। यशोदा आर्य माता की तरह उल्लास, आनन्द मग्न है—

“बाहर मैं जन मान्य और धन धान्य पूर्ण घर मेरा

पाया है तब देने को भी प्रस्तुत है कर मेरा !

लहराता है गहरा गहरा यह मानस-सर मेरा

वही मराल बना है इसमें जो इन्दीवर मेरा !”

कृष्ण का आदर्श है भक्तों का उद्धार करना।

वलराम वर्तमान को महत्व देते हैं। आर्य मार्ग पर चलने पर भी सकीर्ण हृदयता नहीं रहनी चाहिए। समय देखकर चलना ही बुद्धिमत्ता है अतीत को उतना ही अपनाया जाय कि वह उन्नति में सहायक हो, युग अपना ही श्रेष्ठ है—

“वर्तमान, यह अयोजन है

निज भावी जीवन का

कुछ अतीत संकेत मिले तो

अधिक लाभ वहजन का !”

उम्रसेन क्षमा उदारता से पूर्ण है, वे पापी के लिए भी मृत्युकामना नहीं करते। अक्रूर हिंसा की आलोचना करते हैं। अपने बल पर गर्व नहीं करना चाहिए। हमें नष्ट करने का क्या अधिकार है जब हम निर्माण नहीं कर सकते ? वह कंस को भी आलोचना करते हैं—

“भागिनेय से अपना मरना

सत्य उन्होंने माना

तो फिर सत्य अनृत क्या होगा
इसे क्यों नहीं जाना ?”

इस प्रकार हमने देखा गुप्त जी ने कितनी व्यापकता से भारतीय सभ्यता व संस्कृति को अपनी रचनाओं द्वारा देश-जाति के सामने रखा। इसकी विशेषता यह रही है कि नाना मत-मतांतरो, जाति-धर्मों विप्लवों से समय समय पर प्रभावित होती हुए निरंतर उन्हें आत्म सात करती गई है। आर्य आए, यूनानी आए, शक-हूण तलवार के जोर पर इस्लाम आया और योरोपीय आये—वे सब वहाँ आकर घुल मिल गए, इसी संस्कृति के अंग बनते गए। भारतीय संस्कृति उस विशाल महासागर सी रही जिसका ऊपरी धरातल लहरों से आलौडित विलोडित होता रहता है, पर अन्तरत्तल गंभीर और प्रशांत ! उसमें हलचल नहीं होती। गुप्त जी की रचनाओं में इसी मिश्र संस्कृति के दर्शन होते हैं—वैदिक कालीन, पुराण कालीन, बौद्ध कालीन, रामायण, महाभारत कालीन, राजपूत कालीन... ‘रंग में भंग’ से लेकर ‘नहुष’ तक इसकी झलक देखी जा सकती है।

गुप्त जी को निस्संकोच भारतीय संस्कृति का वैतालिक, प्रतिनिधि तथा सफल गायक कहा जा सकता है।



अध्याय ६

काव्य कला का उद्देश्य

१. विभिन्न मतः—भारतीय काव्य शास्त्रों के अनुसार तो 'साहित्य के शब्द मे "हित" स्वयं जुड़ा हुआ है—“हितेन सह सहितं साहित्यं मु” ! हित बराबर लोकहित । शिवं शब्द भी लोक कल्याण का भाव लिए हुए है। जो भी काव्य रचा जाय उसमें लोक पक्ष और जन-कल्याण का ध्यान अवश्य रखा जाय । यूरोपीय विचारकों मे भी दलस्टाय ने लोकहित का स्वीकार किया हैः—“The destiny of art is to Transmit from the realm of reason to the realm of feeling, the truth that well being for men consists in their being united together.....” (I) आइ० ए० रिचर्डेस ने उपयोगितावाद पर जोर दिया है कि सत की प्रेरणा मनुष्य की स्वाभाविक प्रेरणा है जो उसे रचना की अभिव्यक्ति मे प्रेरित करती है । मैथ्यू आर्नल्ड ने भी लोक पक्ष का प्रधानता दी है । रास्किन ने नीति पक्ष पर जोर दिया है । किसी ने आर्थिक हित को प्रधानता दी है किसी ने माध्यामिक हित को ! “We are to consider whether his production is worth any thing, and why it is or why it not” (II) इसी प्रकार—

‘ To read a poem for the sake of pleasure.....is to approach it in an inadequate attitude. It is the poem which we should be interested and not in the by-product... ..’ (III)

इधर नए आलोचकों का दल इस लोक हित को कला या साहित्य का उद्देश्य नहीं मानता उनका कहना है कि कला एक स्वतंत्र सृष्टि है । उसकी अभिव्यक्ति

(i) Tolstoy (ii) Lauder (iii) I. A Richards.

व सौंदर्य के कुछ अपने नियम होते हैं, उन्हीं का पालन कला करती है तब कला का विवेचन में भी इन्हीं की चर्चा होनी चाहिये। वह तो रूप की अभिव्यक्ति मात्र है। उसका संबंध न उपयोगितासे है, न नीतिसे। अतः आर्थिक नैतिक सामाजिक बमान्यताओं द्वारा कला या मृत्युकन ठीक नहीं। कला की मन को आकर्षित करने वाला गुण ही उसकी उपयोगिता है। "This experience is an end in itself.....its poetic value is this intrinsic worth alone" ब्रैडले का कहना है शुद्ध कला की दृष्टि से कला ही उसका मापदण्ड हो सकता है। क्लाइव बेक का मत है। "To appreciate a work of art, we need of bring with us nothing from life, no knowledge of its ideas and, affairs no familiarity with its emotions." (IV आलोचक क्वीलर काउच (Quiller Couch) भी कलावादी है इसलिए 'उम्र का त्यो' वा ने दृष्टिकोण का समर्थन करता है Literature is a loving thing and it should be studied for its own sake.. Life must be painted as the author views it, He must describe things as they really are." (v) इसी कलावाद के पक्ष में स्पिंगन ने तो यहाँ तक कह दिया है—"To pay that poetry as poetry is moral or immoral is as weaving less as to say that equilateral triangle is immoral and an isosceles triangle is immoral

दार्शनिक क्रोचे मानता की अभिव्यक्ति को ही प्रधान है। कला मानसिक अभिव्यक्ति है अतः नीति व उपयोगिता के अनुशासन से मुक्त है क्योंकि नीतिकार की पहुँच यहाँ तक नहीं है। फिर भी उसका कहना है :-

'if art be understood as the externalization of art, then utility and morality have a perfect right to deal with it, " (vii) अर्थात् वह नितान्त उपेक्षा नहीं करता। कला है तो आन्तरिक पर उसका बाह्य प्रत्यक्षीकरण—externalization—नीति उपयोगिता के शासन में है।

मत-मतान्तरों की यह लहर हिन्दी काव्य-जगत में भी फैली। कुछ कवि लेखक विचारक तो मान चले वस्तुतः कला कला के लिए ही है—कवि को जगत्

(iv) Clive Bell (v) Quiller Couch. (vi) Spingarn. (vii) Croce.

से विशेष सम्बन्ध नहीं, वह तो एकान्त भावलोक में रमा हुआ अपने ही गीतों से साहित्य-कानन को गुंजित करता रहता है। लेकिन भारतीय स्कारो में पले हुए बिचारक इनकी चकाचौंध में नहीं पड़े। आचार्य शुक्ल ने काव्य को लोकहित से समन्वित किया है। उनके आदर्श कवि थे तुलसी। 'मानस' की चर्चा करते हुए वे थकते नहीं—इसी लिए कि उसमें स्थान स्थान पर लोक-कल्याण की भावना है। यथार्थ वादी प्रेमचन्द ने भी साहित्य को सोद्देश्य ही माना है साहित्यकार की सच्चाई मशाल लेकर समाज के आगे आगे चलने वाली सच्चाई है, वह हमको सुनाती-बहलाती नहीं अपितु नवीन स्फूर्ति देकर मतव्य तक पहुँचने का सन्देश देती रहती है।

२--गुप्तजी का दृष्टिकोण--मैथिलीशरण गुप्त जी के रोम रोम में जब भारतीय सङ्स्कृत सभी हुई है तो लोकहित की उपज्ञा वे कैसे कर सकते? कविता को केवल कला ही कैसे स्वीकार कर लें फिर उनपर महावीर प्रसाद द्विवेदी का प्रभाव था जो काव्य के अग्र प्रयोग में उपयोगिता खोजा करते थे! तो उनका भी काव्य कृतियों के निर्माण में कुछ न कुछ उद्देश्य रहा ही है जो या तो उन्होंने रचनाओं की भूमिका में स्पष्ट कर दिया है या पात्रों द्वारा व्यक्त कर दिया है।

गुप्त जी ने इस उद्देश्य का विवेचन सबसे विस्तृत रूप में 'हिंदू' की भूमिका में किया है। जैसे पन्त जी ने अपना दृष्टिकोण 'पल्लव' की भूमिका या 'उत्तरा' के २७ बड़े पृष्ठों में किया है, गुप्त जी ने भी ४२ पृष्ठों में यही चर्चा की है और प्रतिपादित किया है कविता में उपयोगिता हमेशा रहेगी। उन्होंने लिखा है—

“क्रम विकास के अनुसार उन्नति करता हुआ कवित्व आज कल स्वर्गीय हो उठा है। अपनी लक्ष्य सिद्धि के लिए वह जो विचित्र चाप चढ़ाने जा रहा है, हमें भी कभी कभी भेषों के कन्धों पर चढ़ कर वह अपनी भोंकी दिखा जाता है। उसे उठाने के लिए जिस सूक्ष्मता अज्य विशालता अथवा स्वर्गीयता की आवश्यकता होगी, कहते हैं कवि-व उसी की साधना में लगा हुआ है। हम हृदय से उसकी सफलता चाहते हैं।

“उसका लक्ष्य क्या है? हमें जब वह नहीं दिखाई देता तब उसके लक्ष्य की चर्चा ही क्या?—

“सम्मुख चन्द्र चकोर है सम्मुख मेघ-मयूर
बह इतना ऊँचा उठा गया दृष्टि से दूर !”

परन्तु सुनते हैं वह लक्ष्य है—“सुन्दरम्” और केवल “सुन्दरम्” “सत्यम्” और “शिवम्” उसके पहले की बातें हैं। कवित्व के लिए अलग से उनकी साधना करने की आवश्यकता नहीं, औरों के लिए हो तो हो ! फूल में हो मूल के रस की परिणित है फल तो उपलब्ध मात्र है...

“कवित्व फिर भी निष्काम है। संभवतः वह स्वयं एक सुफल है। इसी से उसे किसी फल की अपेक्षा नहीं। निस्संदेह बड़ी ऊँची भावना है। भगवान से प्रार्थना है कि हम लोगों को भी इतना ऊँचा कर दे कि हम भी उसका अनुभव कर सकें.....

परमार्थ के पीछे स्वार्थ का सर्वथा त्याग कर दिया है इसलिए वह न तो देश से आवद्ध है और न काल से। सार्वदेशिक और सार्वकालिक हो गया है। लेखक उसके ऊपर अपने आपको निछावर कर सकता है। परन्तु वह आकाश में है और यह पृथ्वी पर...जो हो और तो सब ठीक है, परन्तु एक कठिनाई है वह यह कि सार्वदेशिक होने पर भी वह एकदेशीय रसिकों के ही उपभोग के योग्य रह जाता है.....

“एक और बात है। सोने का पानी चढ़ा देने से ही सब पदार्थ सोने के नहीं हो जाते...लेखक के लिए तो वह अवश्य ही कोई बड़ी बात होगी जो उसकी समझ में नहीं आती.....

“भव की भावना के अनुसार स्वर्ग भी भिन्न भिन्न प्रकार के सुने जाते हैं। सौंदर्य के आदर्श अलग अलग हैं.. यदि सौंदर्य स्वयं बड़ा भारी एक गुण है तो गुण भी स्वयं एक बड़ा भारी सौंदर्य है। हमारे लिए ये दोनों ही वर्दान्य एवं मान्य हैं। एक महाकवि है और दूसरा महात्मा...सो बालक, कवित्व भले ही स्वर्गीय होकर स्वर्ग के सौंदर्य का आनन्द लूटे, परन्तु जब तक यह संसार स्वर्ग नहीं हो जाता तब तक हम सासारिक हो रहेंगे। हमारी गोरक्षा की अति ने विपत्तियों

के सामने गायों को खड़ी देखकर शास्त्र संधान करना स्वीकार न किया, परन्तु इससे न गायों की रक्षा हुई और न हमारी, जो रक्षक थे !

“ऐसी अवस्था में कवित्व हमें क्या उपदेश देगा ? उपदेश देना उसका काम नहीं न हो, परन्तु आपत्ति काल में मर्यादा का विचार नहीं रहता । और क्या सचमुच कवित्व उपदेश नहीं देता ?... क्योंकि पथ्य प्रायः रुचिकर नहीं होता... लाख उपदेश दीजिए, जब तक पथ्य मधुर किया रुचिकर नहीं होता तब तक मन-महाराज उसे छूने के नहीं । कवित्व ही उनके पथ्य को मधुर बनाकर परोस सकता है । परन्तु हमारे कवित्व का ध्यान इस ससार को छोड़कर स्वर्ग की सीमा में प्रवेश कर रहा है । परन्तु हम पार्थिव प्राणियों को पार्थिव साधनों का ही सहारा लेना पड़ेगा...

“कवित्व स्वच्छन्दता पूर्वक स्वर्ग के लुआ पथ पर आनन्द से गुनगुनाना हुआ विचरण करे अथवा वह स्वर्ग गा के निर्मल प्रवाह में निमग्न होकर अपने पृथ्वील के पापों का प्रक्षालन करे, लेखक उसे आपन्न करने की चेष्टा नहीं करता । उसकी तुच्छ तुकबन्दी सीधे मार्ग से चलती हुई राष्ट्र किंवा जाति ग गा में ही एक डुबकी लगाकर ‘हरग गा’ गा सके तो वह इतने से ही कृतकृत्य हो जायगा । कहीं उसमें कुछ बातों का उल्लेख भी हो जाए तो फिर कहना ही क्या ?...

“कवित्व के उपासकों से उसकी यही प्रार्थना है कि वे उसकी सीमा इतनी संकुचित न कर दें कि नवीन दृष्टि के विचार करने पर पुरानी रचनाएँ तुकबंदियों के सिवाय और कुछ न रह जाय...

कवित्व से उसे इतना ही कहना है कि ऊपर केवल स्वर्गगंगा और स्वर्ग ही नहीं वैतरणी और नरक भी है । स्वर्ग और नरक उलटें होकर भी ३६ के अक के समान पास ही पास रहते हैं, अतएव सावधान, अपने को न भूलना !...

लेखक शब्द का प्रयोग ‘गुप्त जी ने अपने लिए किया है । उन्होंने ‘कला कला के लिए’ या केवल ‘सुन्दरम्’ को मान्यता देने वालों पर जो तीक्ष्ण व्यंग्य किया है, वह स्पष्ट है । उनके दृष्टिकोण का भी इस भूमिका से पता चल जाता है । ‘हिंदू’ पर तो इसका इतना प्रभाव है वह प्रायः उसके शिष्टात्मक हो गया है वे हिंदुत्व का

प्रचार सा करते प्रतीत होते हैं। 'वैतालिक' भी उपदेश प्रधान है किंतु काव्यात्मक है।

३. रचना द्वारा:—गुप्त जी की कोई रचना ले ली जाय, उपयोगिता शिक्षा या कहे तो उपदेश अवश्य रहेगा। 'जयद्रथ बध' की पहली पंक्तियाँ हैं—

“वाचक ! प्रथम सर्वत्र ही 'जय जानकी जीवन' कहो
फिर पूर्वजों के शील की शिक्षा तरंगों में बहों
दुःख, शोक, जब जो आ पड़े सो धैर्य सब सहो
होगी सफलता क्यों नहीं कर्तव्य पथ पर दृढ़ रहो।”

यह शिक्षा आरम्भिक रचनाओं में तो गुप्त जी ने स्वयं आत्म प्रधान शैली में दी है जैसे धार्मिक उपदेशक कहा करते हैं—ऐसा करो, वैसा करो ! परवर्ती रचनाओं में वह उद्देश्य वाच्य न रह व्यंग्य हो गया है, कथा के पात्र स्वयं अपने जीवन में उनको पूर्ण दिखा कर व्यवहार में प्रस्तुत कर देते हैं। 'भारत भारती' और 'साकेत' या 'हिन्दू' और 'सिद्धराज' में यह अंतर स्पष्ट हो जायगा।

'भारत भारती' का उद्देश्य है भारतवासियों को अपने अतीत और वर्तमान दशा से परिचित कराना। कवि भविष्य की रूपरेखा भी निर्धारित करता है अर्थात् भारत उसकी कल्पना के अनुसार कैसा होना चाहिए—नागरिक कैसे हों, शासन कैसा हो पारस्परिक व्यवहार कैसा हो आदि।

“हम कौन थे, क्या हो गए हैं, और क्या होंगे अभी
आओ विचारें आज मिलकर ये समस्याएँ सभी।”

वह आर्य ऋषि, विद्वानों का, स्त्रियों का, कला कौशल आदि का वर्णन केवल वर्णन के लिए नहीं करता। वह चाहता है भारतीय अपनी वर्तमान अधोगति से उसकी तुलना करे। ससार का शिरमौर ही आज दीन निर्बल हो गया है। अधिकार खोकर बैठा रहता है, स्त्रियाँ अवल है, पाखण्ड भ्रष्टाचार पैलता जा रहा है—कवि इस वैषम्य को उभार कर, (उक्सा कर नहीं) स्पष्टतः सामने रख कर भारतीयों को सचेत करना चाहता है, उद्बुद्ध करना चाहता है मानो कह रहा हो—

“Arise ! Awake ? and do not stop fee the good is reached ,”

वह वर्तमान भारत का वर्णन करते हुए मोक्षता है क्या यही पुण्य भूमि है जिसकी अलौकिक कीर्ति से पृथ्वी मंडित हो थी ? अब न कमल है, न सरोवर— वस कीचड़ मात्र शेष रह गया है, वह राज कुबेर आज रक का भी रक हो गया है। जिन दुर्ग शृंगों में संगीतज्ञ मुधा धोलते थे वहाँ आज उल्लू धोलते हैं—

“श्रुति, शास्त्र और पुराण का होता जहाँ प्रिय पाठ था,
सुन्दर, सुखद, शुचि सत्व गुण का एक अदभुत ठाठ था,
जम्बुक अचानक अब वहाँ की शक्ति करते भग हैं
आकाश के बहु रंग जैसे भूमि के भी ढंग है
आमोद वरसाती जहाँ थी यज्ञ धूममयी घटा
यश तुल्य जिस आमोद की थी स्वर्ग में छाई छटा
अब प्लेग जैसी व्याधियों की है वहाँ फैली हवा
चलती नहीं जिस पर धुरंधर डाक्टरों की भो दवा !”

चारों ओर दुर्भिक्ष हैं, लाखों मिखारी भूखे नंगे खप्पर लिये घूम रहे हैं, मालूम नहीं पड़ता वे सोते हैं या जागते ! पहले सी खेती नहीं, भरपेट भोजन नहीं, ईश्वर को भी भूत-प्रेत की तरह कोई सत्ता मानने लगे हैं। गो वध होता है—

“दाँतों तले तृण दाब कर है दीन गायें कह रहीं—
हम पशु तथा तुम हो युज, पर योग्य क्या तुम को यही ?
हमने तुम्हें माँ की तरह है दूध पीने को दिया
देकर कसाई को हमें तुमने हमारा वध किया !”

रईस, देशी नरेश, धनी वर्ग की स्थिति ऐसी है—

उनकी सभा ‘इन्द्र सभा’ है, इन्द्र उनको लेख लो
बह पूर्ण परियों का अखाड़ा भाग्य हो तो देख लो

विख्यात बोटल की दवा क्या है अमृत से कम कभी
लेखक अधम कैसे लिखे उस स्वर्ग का वर्णन सभी !

× × × ×

बस भांडू भड़ूवे, मसखरे उनकी सभा के रत्न हैं
करते रिझाने को उन्हें अच्छे घुरे सब यत्न हैं
धारा बचन की, कौन जो उनके सुखार्थ न कह उठे ?
है कौन उनकी बात पर, जो 'हाँ हजूर' न कह उठे ?

× × × ×

इसी प्रकार अन्य यथार्थ भारत की दुर्दशा पर गुप्त जी ने जो करुण
व्यक्त की है वह केवल वर्णन के लिए—केवल कला के लिए नहीं है। उसका
निश्चित लक्ष्य है—

“हे भाइयो ! सोए बहुत, अब तो उठो, जागो अहो !
देखो जरा अपनी दशा आलस्य को त्यागो अहो !
कुछ पार है, क्या-क्या समय के उलट फेर न हो चुके
अब भी सजग होगे न क्या ? सर्वस्व तो खो चुके !”

लगभग १०० छन्दों तक वे यही उपदेश देते गए हैं और अपना अखण्ड
विश्वास भी व्यक्त कर दिया है—भारत के गौरव पूर्ण दिन फिर आएँगे—

“सौ सौ निराशाएँ रहें, विश्वास यह दृढ़ मूल है—
इस आत्म लीला भूमि को वह विभु न सकता मूल है
अनुकूल अवसर पर दयामय फिर दया दिखलाएंगे
वे दिन यहाँ फिर आएँगे, फिर आएँगे, फिर आएँगे !”

इससे स्पष्ट है गुप्त जी काव्य का उद्देश्य जनहित ही मानते हैं—“सद्यः
पर निर्वृत्तए शिवेतरक्षतए” उनका लक्ष्य है। एक स्थान पर कहते भी हैं—

“केवल मनोरंजन न कवि का कर्म होना चाहिए
रसमें उचित उपदेश का भी मर्म होना चाहिए !”

महावीरप्रसाद द्विवेदी ने 'भारत भारती' की प्रशंसा में लिखा था—“यह काव्य वर्तमान हिन्दी साहित्य में युगान्तर उत्पन्न करने वाला है वर्तमान और भावी कवियों के लिए यह आदर्श का काम देगा। जो कितने ही अंग 'सरस्वती' में निकल चुके उनसे इसके महत्व का अनुमान पाठकों ने पहले ही कर लिया होगा। यह सोतों को जगाने वाला है, भूले हुआ को ठीक राह पर लाने वाला है, निरुद्योगियों को उद्योग शील बनाने वाला है, आत्म विस्मृतों को पूर्व स्मृत दिलाने वाला है, निरुत्साहितों को उत्साहित करने वाला है... इसमें वह संज्ञा-बनी शक्ति है जिसकी प्राप्ति हिन्दी के और किसी भी काव्य से नहीं हो सकती!” एक सज्जन ने तो 'भारत भारती' को 'साक्षेत्' से भी श्रेष्ठ बतलाया था। चिर-गाँव के एकान्त काव्य साधक की भारती वस्तुतः देश के कोने-कोने में गूँज कर भारत की भारती हो गई।

‘वैतालिक’ में गुप्तजी सारे भारतियों को उद्बोधित करते ही निराशा के आधार पर जागरण संदेश देते हैं :—

“बने कूप-मण्डक निरे
रहो घरों में ही न धिरे...
फिर अपने को याद करो
उठो अलौकिक भाव भरो...
यह सोने की मूर्ति उषा
नव स्फूर्ति की पूर्ति उषा...
जगा रही है जागो जागो
कर्तव्यों में लगो लगो !”

‘हिन्दू काव्य का उद्देश्य भी जागरण है उच्च आदर्श स्थापना का संकेत है—

“छोड़ परस्पर बैर विवाद
करो आर्य गण अपनी याद
रक्खो ऊँचा ही आदर्श
कर न सके जो इतर-स्पर्श

करो न अवनती के प्रस्ताव
आप तुम्हीं ऊँचे हो जाव !”

फिर वे “सातो पुरियो आटो धाम” द्वारा अखण्ड भारत का स्तवन करने लगते हैं।

‘अनघ’ में निस्वार्थता, अहिंसा उदारता आदि भावों को व्यक्त करने का उद्देश्य रखा है तो ‘वक संहार’ में माता-पिता स्त्री पति राजा प्रजा के पारस्परिक व्यवहारों पर ध्यान है। ‘वन वैभव’ में उदारता की विजय घोषित की गई है तो कौरव पाण्डों के युद्ध को हिन्दू-मुसलिम सघर्ष का प्रारूपक सा बना दिया है। स्वत्व के लिए युद्ध बुरा नहीं है। युधिष्ठिर ने तो स्पष्टतः एकता की चर्चा की है—

जहाँ तक है आपस की आँच
वहाँ तक वे सौ हैं हम पाँच
किन्तु यदि दूसरा करे जाँच
गिने तो हमें एक सौ पाँच

इनमें व्यवहार नीति का बराबर ध्यान रखा गया है।

४. पात्रों द्वारा अभिव्यक्ति:—रचनाओं में उपदेशीया शिक्षा उत्तरोत्तर व्यंजन प्रधान होते गए हैं। ‘साकेत’ में लक्ष्मण तथा उर्मिला के वार्तालाप में गुप्त जी ने पुनः कला के उद्देश्य का प्रश्न उठाया है। यदि यथार्थ का ज्यों का त्यों वर्णन ही हमने कर दिया तो हमारा महत्व क्या है। कला को ही स्वीकार करना एकांगी दृष्टि कोण है। आदर्श-यथार्थ सापेक्ष शब्द हैं—एक ही धरातल के दो पहलू हैं। इस यथार्थ धरातल में जिस त्रुटि का हमें अनुभव होता है, उसी को हम कला द्वारा व्यक्त करते हैं—अर्थात् गुप्त जी उपयोगिता को मानते हैं। लक्ष्मण ने कहा है—

जो अपूर्ण, कला उसी की पूर्ति है...
हो रहा है जो जहाँ सो हो रहा
यदि वही हमने कहा तो क्या कहा ?

किन्तु होना चाहिए कब क्या कहाँ
व्यक्त करती है कला ही यह यहाँ
मानते हैं जो कला के अर्थ ही
स्वार्थिनी करते कला को व्यर्थ ही
वह तुम्हारे और तुम उसके लिए
चाहिए परस्परिकता ही प्रिये !”

“कला की उन्होंने परिभाषा भी दी है—

अभिव्यक्ति की कुशल शक्ति ही तो कला !”

इसके अतिरिक्त कला सुन्दर को सजीव तथा भीषण को निर्जीव करती है—यह भी उसकी उपयोगिता है—

“कहा माण्डवी ने ‘उलूक भी लगता है चित्रस्थ भला
सुन्दर को सजीव करती है, भीषण को निर्जीव कला !

राम के चरित्र द्वारा पितृ भक्ति का उदाहरण प्रस्तुत करना उद्देश्य रहा है—

मुझे यह इष्ट है चिंतित न हो तुम
पङ्क में आग में भी जो कहो तुम !
तुम्हीं हो तात परमाराध्य मेरे
हुए सब धर्म अब सुख साध्य मेरे !”

लक्ष्मण-भरत द्वारा भ्रातृ भक्ति का निदर्शन है, सीता-उर्मिला द्वारा पतिव्रताओं का । कौशल्या, सुमित्रा द्वारा मातृत्व व्यंजित करना उद्देश्य रहा है तो हनूमान द्वारा सेवक-स्वामी सम्बन्ध का ! यहाँ तक कि मकड़ी, तोते भी निरर्थक नहीं हैं, उर्मिला अपनी अनुभूति का विस्तार उन तक करती है, जीवन के साक्ष को ही शक्ति भर साधने का आदर्श प्रस्तुत किया गया है।

‘रंग में भग’ में हाड़ा कुंभ द्वारा मातृभूमि की मान रक्षा को अधिक महत्व दिलाया गया है जो स्वर्ग से भी श्रेष्ठ कही गई है । तो लालसिंह की कन्या द्वारा भारतीय विधवा का चित्र रखा गया है । जिसका आदर्श है पति के साथ सती हो जाना । ‘पंचवटी’ में एक प्रकार से पाप और पुण्य—इन दो पक्षों का संघर्ष तथा पुण्य की विजय दिखाया गुप्त जी को अभिप्रेत रहा है । शर्पणसा अपने

पूर्ण हाव भाव, शारीरिक सौंदर्य, मृदु भाषण द्वारा यती लक्ष्मण को पथ-भ्रष्ट करने की चेष्टा करती है किंतु लक्ष्मण का चरित्र बहुत उज्ज्वल है। दीर्घ नेत्रों से अत्यन्त अतृप्त वासना झलकने पर भी वह कर्तव्य भूलता नहीं। 'जयद्रथ वध' के पात्रों द्वारा ज्ञात धर्म का पालन कराना उद्देश्य है तो 'विकट भट' में सरदार देवीसिंह द्वारा राजपूती आन वीरत्व व्यंजित है :—

“पृथ्वोनाथ, मैं जो रूठ जाऊँ—” कहा वीर ने—

“जोधपुर की तो फिर बात ही क्या, वह तो रहता है मेरी कटारी की पतली में ही मैं यों ‘नवकोटि मारवाड़’ को उलट दूँ... कहते हुए यों ढाल सामने जो रखी थी बाँए हाथ से उन्होंने उलटी पटक दी।”

पिता की भाति पुत्र स्वर्णसिंह भी इतना निर्भीक है—

“निर्भय मृगेन्द्र नया करता प्रवेश है—

बन में ज्यों डाले बिना दृष्टि किसी ओर त्यों भोर के भमूके सा, प्रविष्ट हुआ साहसी... उठता शरीर मानो अंगों में न आता था वक्षस्थल देख के कपाट खुले जाते थे... खू रहा था बाँया हाथ बढ़कर जानु को दाँए हाथ में थी सींग, पीठ पर ढाल थी... आकृतिक ही देती थी परिचय प्रकृति का चौक पड़ी सारी सभा देख वीर बाल को...”

और यह “वीर बाल” अभी केवल बारह बरस का था !

‘गुरुकुल’ का उद्देश्य रहा है किस प्रकार देश के वीर विदेशी विधर्मियों के प्रति विद्रोह करते हैं। वंदा वैरागी द्वारा एक दृढ़, ओजस्वी, मान मर्यादा का पालक, व्यक्तित्व प्रस्तुत किया गया है। उसके द्वारा कर्म क्षेत्र, में प्रवृत्त होने का संदेश दिया है :—

„त्याग त्याग करते हैं हम सब
क्या है किन्तु हमारे पास ?
छिना सभी तो धाम-धरा धन
त्याग नहीं यह त्यागाभास !...
अकबर लाल किले में बैठे
बन बन भटके व्रतो प्रताप
नाम जपे हम अलग विजन में
यह विराग है या अभिशाप ?

‘यशोधरा’ द्वारा गुप्त जी ने भारतीय नारी की विवशता द्वारा संयम, त्याग, आदर्श आदि की महत्ता का निदर्शन कराया है। अतुल त्याग ही नारी जीवन का प्रधान गुण है यशोधरा इसका जाज्वल्य मान उदाहरण है। समर्पण द्वारा ही उसे आशा है प्रिय लौटेगे :—

“उन्हें समर्पित कर दिये यदि मैंने सब काम
तो आवेंगे एक दिन, निश्चय मेरे राम
यहीं, इस आँगन में !”

इस कारण मरणवस्था भी उसको सुन्दर प्रतीत होती है। नारी का महत्त्व त्वयं बुद्ध देव ने स्वीकार किया है। यशोधरा फिर भी राहुल की उपेक्षा नहीं करती। उसे सुलाती है, शिक्षा देती है और पितृ पथ का अनुगामी बनाती है। भारतीय नारी का यही तो चरम आदर्श है ?

‘सिद्धराज’ में भी प्रत्येक पात्र निश्चित उद्देश्य की पूर्ति के लिए लाया गया है। मीलनदे राजमाता, क्षत्राणी का आदर्श प्रस्तुत करती है, जयसिंह कुशल शासक का। खंगार भी योग्य शासक है और मदनवर्मा भी क्योंकि सभी जीवन में संतुलन रखते हैं क्योंकि वे युद्ध तथा राम रंग, भोग विलास तथा संयम दोनों की महत्ता स्वीकार करते हैं—उनका पालन करते हैं। धार्मिक सब हैं, ईश्वर पर आस्था सबकी है। यहाँ भी गुप्त जी संगठन पर जोर देते हैं :—

“दूसरी दिशा में उदासीन हम हो रहे—
 ‘कोई क्यों न ले ले राज्य छोड़ दिया राजा ने !...
 जीना शत वर्ष कर्म करके कठिन है
 मुक्ति मरके भी मिलती है क्या सहज में ?
 हिंसा मिटे, बुद्ध महावीर की दशा बढ़े
 किंतु आत्मा रक्षा हमें करनी पड़ेगी ही...”

सिद्धराज विस्मय से मदनवर्मा का ज्ञान, वैभव, कला-निपुणता राग रंग देखता ही रह जाता है :—

“देखता था सिद्धराज विस्मय से, श्रद्धा से
 भोगी है मदन वर्मा किंवा एक योगी है !”

जगद्देव स्वामिभक्त सैनिक का कर्तव्य पालन करता है, सतीत्व रक्षा के लिए कटिबद्ध है और रानकदे अंत में क्षत्राणी का आदर्श प्रस्तुत करती है। कोई भी पात्र ऐसा नहीं मिलेगा जो पर सेवा निरत न हो और अपने जीवन कार्य द्वारा कुछ आदर्श सामने न रखता हो !

‘द्वापर’ और ‘नहुष’ भी इसी प्रकार सोद्देश्य रचनाएँ हैं। नहुष का तर्क वितर्क तथा निश्चय इसका सूचक है कि पतित हो जाना मानव मात्र की कमजोरी है लेकिन गिरकर वह उठ भी सकता है। कैकयी भी मन की दुर्बलता से एक बार पराजित हो गई। लेकिन पश्चाताप ने उसके कलंक को बिलकुल ही मिटा दिया वह मानवीय गुणों से और संयुक्त हो गई है। छोटे-छोटे पात्र जो रचनाओं में आए हैं—जैसे दास, दासी या निषाद, भटकाका, सखियाँ आदि, वे भी अपनी स्थिति के अनुकूल आदर्श उपस्थित करती हैं। तो स्पष्ट हुआ गुप्त जी ने कोई भी रचना—‘रंग में भंग’ से लेकर ‘नहुष’ तक—निःसुद्देश्य प्रस्तुत नहीं की।

व्यापक रूप से गुप्त जी का उद्देश्य रहा है राष्ट्रीय, सांस्कृतिक तथा सामाजिक आदर्श उपस्थित करना। ‘साकेत’ में भरत इसके आदर्श हैं, वशिष्ठ राम को भी यही शिक्षा देते हैं :—

“देव कार्य हो और उद्धित आदर्श हो
 उचित नहीं फिर मुझे कि क्षोभ-स्पर्श हो !”

मुनि-रक्षक सम करो विपिन मैं वास तुम
मटो तप के विघ्न और सब त्रास तुम
हरो भूमि का भार भाग्य से लभ्य तुम
करो आय सम वन्यचरों को सभ्य तुम !”

राम ने स्पष्ट ही कहा है—

“मुझे था आप हो बाहर बिचरना
धरा का धर्म भय था दूर करना”

और आठवें सर्ग में भी कहते हैं—

“मैं आया उनके हेतु कि जो तापित है
जो विवश, विकल बलहीन, दीन, शापित हैं...
संदेश नहीं मैं यहाँ स्वर्ग का लाया
इस भूतल को ही भुवर्ग बनाने आया...”

‘यशोधरा’ में बुद्ध का गृह त्याग मानव-कल्याण के लिए है—

“हे ओक ! न कर तू रोक टोक
पथ देख रहा है आर्त लोक
मेदूँ मैं उसका दुःख शोक
बस लक्ष्य यही मेरा ललाम !...”

×

×

×

वह जन्म मरण का भ्रमण भाण
मैं देख चुका हूँ अपरिमाण
निर्वाण हेतु मेरा प्रयाण
क्या बात वृष्टि, क्या शीत घाम ।
ओ क्षण भंगुर भव राम राम ।”

युग का प्रत्येक महाकवि अपनी काव्य कृतियों द्वारा कुछ न कुछ संदेश दे जाता है—यही उसका उद्देश्य होता है। कबीर का निश्चित उद्देश्य था समाज

हित,—माध्यम चुने उपदेशात्मक दोहे, भाव भरे गीत पद और अटपटी उलट बांसिया । हिन्दू के तीर्थ गुरु पर व्यंग्य किया तो मुल्ला को भी झकझोर दिया— एक मात्र लक्ष्य रहा जन साधारण का उपकार । जायसी ने सूफी सिद्धांतों द्वारा हिन्दू कथाओं में प्राण डाल कर दो विभिन्न संस्कृतियों को साहित्यिक आधार पर मिलाने—कम से कम वैषम्य मिटाने का—काम किया । तुलसी का उद्देश्य स्पष्ट ही समाज कल्याण रहा, राम जैसा पूर्ण कलावतार सामने लाकर धर्म, मार्ग, समाज, साहित्य—प्रत्येक क्षेत्र में आदर्श प्रस्तुत किया । आधुनिक काल में भार-तेन्दु को ही ले लीजिए । देशप्रेम, समाजोद्धार ही उनकी काव्य-कला के लक्ष्य रहे । गुप्तजी ने भी विराट् आर्य संस्कृति को पृष्ठभूमि देकर हिन्दू समाज को पुनः एक होकर उच्च उठने का संदेश दिया । यह जागरण जातीय नहीं है—हिन्दू, मुसलमान, सिख—सब का है जो भारतीय हो गये हैं । मिश्र व अवि-भाज्य भारतीय संस्कृति का उत्थान गुप्त जी की कृतियों का उद्देश्य है । भरत खण्ड का द्वार सबके लिए खुला है । भारत ऊँचा रहा है और पुनः विश्व राष्ट्रों में प्राचीन गौरव प्राप्त करेगा । गुप्त जी की पचास वर्षों की काव्य-साधना इसी भावना को लेकर चली है । ३४ रचनाओं द्वारा विभिन्न रूपों से उन्होंने इसी भावना को व्यक्त किया है । पिल्लुले पचास वर्षों में साहित्य के माध्यम से संपूर्ण भारत-राष्ट्र को उद्बुद्ध कर एक करने की स्तत साधना में लगा हुआ गुप्त जी के समान हिन्दी का दूसरा कवि नहीं है । इस एक कवि ने अकेले जितना कार्य किया उतना शायद ही कोई व्यक्ति या संस्था कर सके ।

तुम सुनो सदैव समीप है—

जो अपना आराध्य है
आओ, हम सार्धे शक्ति भर
जो जीवन साध्य है ।”

अध्याय १०

गुप्तजी की भावुकता

आचार्य शुक्ल ने किसी प्रबंध कार कवि की भावुकता को परखने के लिए चार कसौटियाँ निर्धारित की हैं :—(१) मार्मिक स्थलों की पहचान (२) भावों की व्यापकता (३) भावों की घहराई (४) शब्द-व्यापार शोधन। मैंने इनमें एक कसोटी और जोड़ दी है—कल्पना का उत्कर्ष। इससे मेरा तात्पर्य है वह मानसिक आधार जो किसी पात्र या दृश्य की रूपरेखा को पूर्ण कर काव्य कृति में उतार लाता है। यदि मैं राम या प्रताप का चरित्र आज उपस्थित करूँ तो हो सकता है वह अपने मूल ऐतिहासिक रूप से भिन्न हो। यह भिन्नता मेरी कल्पना द्वारा आई है। उसका यह नवीन रूप अगर प्राचीन रूप से उन्नत है; या उसके सम-तुल्य है तो मेरी कल्पना उत्कृष्ट है; यदि मैं उसे मूल रूप से गिरा देता हूँ तो निकृष्ट है। इस अध्याय में गुप्त जी की रचनाओं का उल्लेख करते हुए 'साकेत' मैंने छोड़ दिया है, कारण कि उस पर द्वितीय खण्ड में आगे प्रकाश डाला गया है।

१-मार्मिक स्थलों की पहचान :—मुख्य प्रबंध-काव्य लिये जाँय—'रंग मे भंग', 'जयद्रथ वध', 'पंचवटी', 'यशोधरा', 'सिद्धराज', 'दापर' और 'नहुष'। 'रंग मे भंग' में मार्मिक स्थल हैं (१) कन्या का विवाह और बिदाई (२) राज कवि की आत्म हत्या (३) वर-कन्या पक्षों में युद्ध। (४) कुंभ का भ्रम संकट। बूँदी का निवासी होने से वह मातृभूमि का अपमान नहीं सह सकता और राणा से विरोध भी नहीं कर सकता था। अंत में मातृ भूमि का प्रेम बिजयी हुआ और दुर्ग रक्षा में प्राण-समर्पण कर देता है।

“हौ न कुछ चित्तौर यह बूँदी इसे अब मानिए
मातृभूमि पवित्र मेरी पूजनीया जानिए
कौन मेरे देखते फिर नष्ट कर सकता इसे
मृत्यु माता की जगत में सहन हो सकती किसे ?”

गुप्त जी का वर्णन चारों प्रसंगों में सफल है। एकाएक “शोचनीय प्रसंग” उपस्थित हो जाता है।

‘जयद्रथ-वध’ में मार्मिक स्थल है। (१) अभिमन्यु का युद्ध और वीर गति (२) उत्तरा का विलाप (३) अर्जुन का क्षोभ (४) जयद्रथ का वध। अभिमन्यु शत्रुओं का सहार करने लगा, जिधर गया कि मैदान खाली हो गया। किसी को कलाई काट दी तो किसी का शीश खण्डित कर दिया। कर्ण, दुःशासन को हरा दिया तो लक्ष्मण बृहदल को जमीन पर सुला दिया। सात महारथी उस पर एक साथ बार करने लगे तो भी अविचल रहा और लड़ने लगा—

“होता प्रविष्ट मृगन्द्र शावक ज्यों गजेन्द्र-समूह में
करने लगा वह शौर्य त्यों उन वैरियों के व्यूह में
तब छोड़ते कोदण्ड से सब ओर चण्ड शराबली
मार्तण्ड मण्डल के उदय का छवि मिली उसका भली !”

लेकिन कहीं सात कहीं निःशस्त्र एक वीर। अभिमन्यु घायल होकर गिर पड़ा। उनको वीरोचित उत्तर देकर—

“कहता हुआ वह वीर यों गण भूमि में फिर गिर पड़ा
हो भंग शृंग सुमेरु गिरि का गिर पड़ा हो ज्यों बड़ा...
हृग बन्द कर तब वह यशोधन सर्वदा को सो गया
हा ! एक अनुपम रत्न मानो मेदिनी का खो गया !”

उत्तरा विलाप करने लगी, सिर छाती पीटने लगी। वे चाहे चले गए पर वह कैसे छोड़ सकती है ? नारियों को तो एक ही गति है चिता में समा जाना। सनाथ ही अब अनाथ हो गई। वैभव युक्त होने पर भी दीन है, बाणी सहित होने पर भी मूक है वह बहुत मार्मिक वर्णन हुआ है—

“मैं हूँ वही जिसका लिया था हाथ अपने हाथ में
मैं हूँ वही जिसका हुआ था ग्रंथि बंधन साथ में
मैं हूँ वही जिसको किया था विधि विहित अर्धांगिनी
भूलो न मुझको नाथ, हूँ मैं अनुचरी चिर संगिनी !

×

×

×

होकर रहूँ किसकी अहो ! अब कौन मेरा है यहाँ ?
कह दो तुम्हीं वस न्याय से अब ठौर है मुझको कहाँ ?

×

×

×

संस्पत को हरा का जब अर्जुन लौटे तो मार्ग से ही अशकुन होने लगे ।
अभिमन्यु की मृत्यु सुन कर संज्ञा हीन हो गिर पड़े । जब सचेत हुए तो हाथ
मलने लगे, शरीर कंपित होने लगा । उन्होंने प्रण किया—

“मैं कल जयद्रथ वध करूँगा, वचन कहता हूँ सही...

पापी जयद्रथ हो चुका तेरा वयोविस्तार है

मेरे करो से अब नहीं तेरा कहीं निस्तार है

विषधर बनेगा रोष मेरा खल ! तुझे पाताल में

दावाप्ति होगा विपिन में, पांडव जलधि जल-जाल में !

जो व्योम में तू जायगा तो वज्र वह बन जायगा

चाहं जहाँ जाकर रहे जीवित न तू रह पायगा !”

जयद्रथ को रक्षा का पूरा प्रबंध हुआ । चक्रव्यूह के सबसे सुरक्षित स्थल में
उसे रखा गया । अर्जुन दिन भर युद्ध में थक गए । सूर्य डूब देखकर लंबी सांस
ली । गाड़ीव रथ में रख दिया । जयद्रथ व्यूह से बाहर निकल कर व्यंग्य करने
लगा । तभी कृष्ण ने सूर्य दिग्वलाते हुए अर्जुन को सचेत किया । उन्होंने पुष्पमाला
से युक्त एक मंत्र सिद्ध बाण चढ़ा कर छोड़ दिया ।

“वह शर इधर गाण्डीव गुण से भिन्न जसे ही हुआ

धड़ से जयद्रथ का उधर सिर छिन्न वैसे ही हुआ

रक्तांकु वह सिर व्योम में उड़ता हुआ कुछ दूर सा
दीखा अरुण तम उस समय के अस्त होते सूर-सा !”

इन वर्णनों में भी गुप्त जी सफल रहे हैं।

‘पंचवटी’ में मेरे विचार से सर्वाधिक मार्मिक स्थल है—लक्ष्मण उमिला का वार्तालाप जहाँ वह प्रणय प्रार्थिनी हो कर आती है। एक तो स्वयं लक्ष्मण के नेत्रों से अतृप्त वासना झलक रही थी, दूसरे रात्रि का एकांत था—चौदनी फैली हुई और घोर नीरवता—“जबकि भुवन भर सोता है।” और तीसरी बात थी स्वयं रमणी का समर्पण।

साधारण मानव ही नहीं स्वर्ग के देवता भी अप्सराओं के सामने झुक जाते हैं लेकिन लक्ष्मण इन प्रवल प्रलोभनों से भी नहीं डिगे। स्पष्ट उत्तर दिया—हे नारी यह प्रेम नहीं मोह है, विष युक्त वासना है, अनीति है !

“आत्म बंचना करती है तू,
किस प्रतीति के धोखे से ?
झोंक न झंझा के झोंके में,
झुक कर खुले झरोखे से।
शांति नहीं देगी तुझको यह,
मृग तृष्णा करती है क्रांति।
सावधान हो मैं पर नर हूँ,
छोड़ भावना की यह भ्रांति !

‘यशोधरा’ के कथावृत्त में मार्मिक स्थल है—(१) दुःख, रोग मृतक को देखकर गौतम के भावों में सषर्ष (२) यशोधरा का खेद तथा बिरह (३) राहुल द्वारा पिता की चर्चा (४) बुद्धदेव का लौटना और मिलन।

सिद्धार्थ आरंभ से ही विचारक हैं—भव सागर से किस प्रकार परित्राण पाया जाय ? क्या यशोधरा भी इतनी ही वृद्धा हो जायगी ? खा पीकर जन्म मृत्यु का निरंतर क्रम चलता रहता है। अब किसका समय बीत जाय, कुछ मालूम नहीं। यह भव सागर तरना ही पड़ेगा—

“पड़ी रह तू मेरी भव-भुक्ति !

मुक्ति हेतु जाता हूँ यह मैं, मुक्ति मुक्ति बस मुक्ति !

मेरा मानस हम सुनेगा और कौन सी युक्ति ?

भुक्ता फल निर्वन्द चुनेगा, चुन ले कोई शुक्ति !,,

और वे “क्षण भगुर मन राम राम” कह कर निर्वाण की खोज में निकल पड़ते हैं।

यशोवरा को यह खेद है वे बिना उसे बतलाए ही “चोरी चोरी” चले गए ! क्या सचमुच वह उन्हें नहीं जाने देती ? वे उसे पहचान नहीं पाए। वह तो वीर क्षत्राणी है जो प्रियतम को स्वयं युद्ध के लिए सज्जित कर प्रेरित करती रही है ! जो कोई पृथ्वी तो मौन रह कर कष्ट भेलेगी, उन्हें उपालंभ कैसे थे ?

“जाँय सिद्धि पावे वे सुख से

दुःखी न हों इस जन के दुःख से

उपालंभ दूँ मैं किस मुँह से ?

×

+

×

सास ससुर पूछेंगे

तो उनसे क्या अभी कहूँगी मैं ?

हा ! गर्विता तुम्हारी

मौन रहूँगी, सहूँगी मैं !”

छन्दक के मुख से सुना कि सिद्धार्थ ने वस्त्र आभूषण, अस्त्र शस्त्र, केश-सबका त्याग कर दिया है तो वह भी सिर के बाल काट देती है। क्यों ? इसलिए कि वे काट देते, एड़ी तक उस लेते ! वियोग पर हँसने का भी उसे अवसर प्राप्त नहीं हुआ। प्रत्येक क्षण वह विरह में घुटती जाती है, अपनी सुध वुध का ध्यान नहीं रहता। उसके ताप से ही मानों पेड़ों के पत्ते झड़ गए हों-भूलस गए हों ! उसे मरण भी सुन्दर प्रतीत होने लगता है लेकिन प्रिय तो मरने का अधिकार भी उसे नहीं दे गए !

“तन गाऊँ मन बारूँ
 पर क्या मैं जीवन हारूँ ?
 उनके तप के अग्नि कुण्ड से
 घर घर में हैं जागे
 मेरे धाम हाय ! फिर भी
 तुम नहीं कहाँ से भागे !”

प्रकृति भी उसकी विरह वेदना पर शान चढ़ा देती है। समय सबका बीत रहा है सर्वत्र आनन्द-उल्लास है पर उसके बनमाली अभी नहीं लौटे। कोयल, चातक के स्वर कोंटो से खटकते हैं। फलो में बीज आए पर उसके दिन नहीं फिरे। सब सुख स्वप्नवत हो गए ! गुप्त जी ने यह विरह वर्णन बड़ी मार्मिकता से किया है—

“उनका यह कुंज कुटीर वही
 झड़ता उड़ अंशु अबीर जहाँ
 अलि, लोकिल, कीर, शिखी सब हैं
 सुन चातक की रट “पीव कहाँ ?”
 अब भी सब साज समाज वही
 तब भी सब आज अनाथ यहाँ
 सखि, जा पहुँचे सुध संग कहीं
 यह अन्ध सुगन्ध समीर वहाँ !”

‘सिद्धराज’ के वृत्त में भी गुप्त जी को मार्मिक स्थलों की पहचान है। ये हैं—(१) राजमाता के कर्त्तव्य अधिकार में भावों का द्वन्द्व (२) नरवर्मा की मृत्यु पर निश्चय-अनिश्चय कि संधि करे या सामना (३) रानकदे का बरण (४) विधवा होने के उपरांत लालच तथा सतीत्व रक्षा का प्रश्न (५) अर्णोराज तथा काचनदे की अनमनी स्थिति (६) मदनवर्मा से व्यवहार।

राजा का अधिकार है वह मंदिरों पर कर लगा सकता है कौटिल्य ने इसका विधान किया है। हटा दिया जाय तो राजकोष में कमी हो जाएगी मगर कठोरता

से लिया जाय तो दीन गरीबों को देव-दर्शन दुलभ हो जाय । क्या ईश्वर पर किसी का व्यक्तिगत अधिकार हो सकता है ? एक माता और पुत्र जब “निपूता” कह कर राजकर का विरोध करते हैं सोच विचार करती हैं और बिना सोमनाथ महादेव का दर्शन किए ही लौट जाती हैं । जयसिंह ने कर का निदेश पत्र देखा—प्रतिवर्ष लाखों का लाभ होता था लेकिन मातृभक्त ने फाड़ डाला । देव-दर्शन सबको सुलभ हो गए !

“हर हर महादेव जै जै राजमाता की !”

गूँज उठा सोमनाथ-मंदिर सुनाद से

पाके कर बाधा मुक्ति धनियों के साथ ही

दर्शन अकिंचनों ने पाया और गाया यों—

“हर हर महादेव ! जै जै राजमाता की !”

नरवर्मा ने वीरता से कई वर्षों तक जयसिंह से युद्ध किया, मारा जरूर गया पर अपनी मान का पालन किया । नई अवस्था उत्पन्न हो जाने से कुछ लोगों ने राय दी—इस हीनता में विधाता का हाथ रहा, प्रजा दुःखी है, चिंतित है तब सधि करने में क्या हीनता है ? सधि तो बराबर वालों से ही होती है ! राजवंशी जगद्देव ने विरोध किया—यह तो स्पष्टतः दीनता है ! महाराज का स्वर्गवास हो गया तो अन्य लोगों का कर्तव्य है उनके गौरव का अपमान न होने दें । इस क्षण भंगुर शरीर की क्या ममता ? विरोधी लोग उत्तर देते हैं—

“पत्थर भी पिघल उठेगा यहाँ सुनके

नित्य हत सैनिकों की नारियों का, माँओं का,

बहनों का, बेटियों का, बालकों का, वृद्धों का

कुन्दन कठोर ! मध्य रात्रि जब अपना

सन्नाटा निहार स्वयं सन्न रह जाती है ,

और हम लोग स्वप्न देखते हैं निद्रा में

रोदन-रदन नहीं रुकता है तब भी ! !

तो जगद्देव पुनः वीरता के प्रसंग बतला कर युद्ध के लिए उत्तेजित करता है—

जन्मभूमि का एक एक पत्ता शत्रु से बदला लेने को उद्यत हो जाय ! कोई वीर नारी अपने पुत्र व पति को शत्रु के सामने दीन नहीं देख सकती—“लज्जेजं तु वयंसि अद्भु, जइ भग्ना घर रतु !” यदि सधि ही करनी थी तो युद्ध आरम्भ ही क्यों किया ? समर्पण द्वारा “मृत तर्पण किस मुँह से हो सकेगा ? तो सभा में अंततः युद्ध का ही निश्चय रहा—

‘जीवन सुमन भड़ धूल में गिरे कहीं
इससे भला है यही उड़ कर शून्य में
करदे समर्पित सुगंधि जगत्प्राण को !”

रानकदे को अपना बनाने के लिए खगार और जयसिंह दोनों ही शासक मचल उठे। रूप गुण सौंदर्य में साक्षात् लक्ष्मी उतर आई थी। खगार ने पहले उसे अपनाने की इच्छा प्रकट की—“दुलभ है ऐसी दीनप्ति, तुम कुलवन्ती हो।” जयसिंह से वह किस बात में कम है ?—

“मैं भी कुछ भीरु नहीं यदि वह वीर है
उसमें उदारता है तो मैं क्या कृपण हूँ ?
यदि जयसिंह कृतो, तो खगार भी वृति
तुच्छ धन धाम क्या मैं व्रत पर अपने
प्राण तक करने को प्रस्तुत हो बैठा हूँ !”

रानकदे के हृदय पर अब भी जयसिंह के वीरत्व, शौर्य का प्रभाव है—

“आदर परन्तु मेरे मन में है उनका
शूर वीर विश्रुत वे और हैं उदार भी !”

अनेक तर्कों के बाद खगार ने रानकदे को अपने पक्ष में कर ही लिया, वह राणा के समक्ष नत ग्रीव हो गई।

“राना ने बुलाया और आए वहाँ दोनों वे
“वृद्ध, भाग्य शाली रहा मैं ही जयसिंह से !”
“किन्तु महाराज, मेरी बेटी हुई रानी ही
विस्मय नहीं हैं मुझे, निश्चय था इसका

इससे बड़ी क्या भेंट और दूँ में आपको ?
मिट्टी खोंदते हैं हम जाकर जहाँ तहाँ
मैं उसी में पा गया था एक दिन सोना भी
यदि वह स्वीकृत हो, दीन कृत कृत्य हो ! ”

वृंदावन लाल वर्मा के उपन्यास ‘मृगनयनी’ की नायिका को भी बालीयार के अधिपति मानसिंह ने इसी प्रकार अपना रानी बनाया है !

खंगार युद्ध भूमि में मारा गया । जयसिंह ने रानकदे से अपने वहाँ चलने को कहा । वह पाटन की राजलक्ष्मी है—“तुम मेरी और मेरी हो !” बहुत बड़ा प्रलोभन था । और स्त्री होती तो अवश्य स्वीकार कर लेती । किन्तु रानकदे आर्य नारी थी—उसका जीवन तो पूरा हो गया :—

“मेरा राजसिंहान जलती चिता में है—
वीर गति भोगी एक मात्र मेरे स्वामी ही
बैठ सकते हैं वहाँ ऊँचा सिर करके
मुग्धजयसिंह तुम जीते जी जलागे क्या ? ”

वह जयसिंह का प्रस्ताव अस्वीकृत ही नहीं करती उसकी कायरता पर क्षोभ भी प्रकट करती है । वह केवल पति का शव लेकर सती हो जाना चाहती है । पागल की भोंति जयसिंह उसे पकड़ने चला तो एकाएक जगद्देव आ गया—
“भार ही सती के पर्यवेक्षण का मुझको ! ” और अंत में :—

“लाज रही रानक की, साध्वी सती हो गई ! ”

जब अणोराज वन्दी बना लिया गया तो दुर्ग में ही अतिथि रूप में उसने रहने की व्यवस्था हुई । काचनदे को रात भर उसी का ध्यान रहा । उसके रूप, वीरत्व से प्रभावित होकर सो न सकी—अनायास अपनी बात कह दी ! हार कर भी आनवान की रक्षा की । स्वर गंभीर और वाणी अर्थ पूर्ण है जैसे अपने में स्वयं परिपूर्ण हो और प्रातः काल ही उसकी कुशल क्षेम पूछने चल पड़ती है ! कि व्याकुल हो गई । परिचय होने से सो उसका सकोच घटना चाहिए—बढ़ क्यों रहा है ? उसने उन्हें बड़े मत से “नीचा मुख रख दृष्टि ऊँची कर” देखा है । तब उसे रोम हर्ष का कंपन, ताप का अनुभव क्यों हो रहा ? इसलिए कि—

किंतु राजनंदिनी को रोग न था, राग था
 प्रेम भूख नींद ही भुलाता हुआ आता है !
 जाती थी सवेग उसी ओर वह मन से
 आती थी पगन्तु लौट चंचल किरण-सी !
 और दिन कटता था ऐसी दौड़ धूप में
 रात तारिकाएँ चिनगारियाँ सी लगतीं !”

उधर अर्णोराज की मनोदशा भी इससे अच्छी नहीं। वही जानता था क्या बीत रही है ! श्वास तीर जैसे बैठते थे—वह सहता जा रहा था—“देखा उस मुग्धा को विदग्धता से उसने !” उसे यह विस्मय था देव मूर्ति जैसी कौन आ गई है ?

अन्तिम स्थल है जयसिंह की मदनवर्मा से भेंट। वह स्वयं शस्त्र-शास्त्रो में पारंगत था, धार्मिक था, दानी था, उसके राज्य में ललित कलाएँ यथेष्ट विकसित हुई थी, फिर भी वारण द्वारा महोत्र की प्रशंसा मुन उसे ईर्ष्या भी हुई आकर्षण भी।”

“मुनकर चारण की बातें सिद्धराज को
 ईर्ष्या हुई किंतु एक आकर्षण भी हुआ
 इच्छा कर देखने की, साथ ही दिखाने की
 वीर दल बल से महोत्र के लिए चला !”

स्वयं मानता है कि वह पृथ्वी का प्राणी नन्दन कानन में पहुँच गया है—आसुरी विचार नष्ट हो गए। मदनवर्मा यथा योग्य रीति से सत्कार करता है, एक दूसरे के स्नेह में मग्न हो जाते हैं। यहाँ गुप्त जी ने देश-कल, सामाजिक व्यवस्था, धर्म पर अच्छा प्रकाश डाला है ?

‘तो भी मैं निराश नहीं आप जैसे विजयी
 वीर और धीर जब यहाँ जन्म लेते हैं...
 देना पड़ा, और देना होगा हमें आगे जो
 क्या कुछ मिलेगा नहीं बदले में उसके ?

संजीवनी शुक की है उम्र असुरों में भी
और मय जैसी मंजु शिल्पकला उनमें !”

‘नहुष’ प्रबन्ध काव्य में मार्मिक स्थल दो ही कहे जा सकते हैं—(१) इन्द्राणी की विषम स्थिति, और (२) पतन के उपरांत आत्मग्लानि ।

इन्द्र को प्रायश्चित्त करने के लिए जब सरोवर में लुपित पड़ा तो सिंहासन पर नहुष को प्रतिष्ठित किया गया । उसने स्वर्ग वैभव से उदीप्त होकर शची पर भी अधिकार चाहा । पद को दृष्टि से तो शची को उसके पास जाना चाहिए किन्तु व्यक्तिगत नारीत्व की दृष्टि से नहीं । वह इन्द्र की प्रेयसी थी—सतीत्व रत्ना का प्रश्न था । इस संघर्ष में उसने सनीत्व को महत्व देकर कहा—

“सौंपा धन धाम तुम्हें और गुण कर्म भी
रख न सकेंगी हम अंत में क्या धर्म भी ?”

नहुष जब प्रेमोन्माद में सत ऋषियों की प्रहत्ता भूल कर शीघ्रता करने लगा तो अगस्त्य मुनि ने आप देकर सर्प योनि में डाल दिया । यहाँ जो मानवोचित पञ्चात्ताप उसे होता है इससे चरित्र उच्च हो गया है । पतन होना बुरा नहीं है, मनुष्य भूल में कर बैठता है किंतु इसका प्रायश्चित्त सुधार को प्रेरणा देता है । कैकयी भी इसी तरह महान् हुई है । नहुष मान लेता है उसे अपनी भूल पर खेद है तब उठने की आशा प्रभातकालीन किरण की भाँति उसके हृदयकाश में नैराश्य का अंधकार भेदती हुई प्रकट होती है :—

“गिरना क्या उसका उठा ही नहीं जो कभी ?
मैं ही तो उठा था, आप गिरता हूँ जो अभी
फिर भी उठूँगा और चढ़ के रहूँगा मैं
नर हूँ, पुरुष हूँ मैं, चढ़ के रहूँगा मैं !”

इस प्रकार गुप्त जी अपनी प्रत्येक प्रबन्ध रचना में मार्मिक स्थलों पर ध्यान रखते चले हैं—उसका अत्यन्त हृदयग्राही वर्णन किया है ?

(२) भावों की व्यापकता:—“पूर्ण भावुक वे ही हैं जो जीवन की प्रत्येक

स्थिति के मर्मस्पर्शी अंश का साक्षात्कार कर सके और उसे श्रोता या पाठक के सम्मुख अपनी शब्द शक्ति द्वारा प्रत्यक्ष कर सके।” ❀

गुप्त जी की रचनाओं में सभी तरह के संचारी-स्थायी भाव मिल जाते हैं। भाव वस्तुतः मा के विकार है। बाह्य जगत के सवेदनों से मनुष्य के हृदय में जो विकार उठते हैं वे ही भाव हैं—“काव्याधीन भाव यन्तीति भावा”। ये भाव वासना रूप में मानव हृदय में निरंतर स्थित रहते हैं, अनुभवों से सुख या दुःख मूलक होते हैं, अनुकूल वातावरण पाकर उद्दीप्त हो जाते हैं, जितने तीव्र होते हैं उतने ही अस्थिर भी और इस का मूल आधार प्रस्तुत करते हैं। आचार्यों ने इनकी संख्या ४२ पानी है जिनमें ६ स्थायी भाव हैं तथा ३६ संचारा। स्थायी भाव वह भाव है जिसे विरुद्ध-विरुद्ध भाव न छिपा सके और जो आस्वादन के अंकुर का मूल हो या “जो भाव रस का आस्वादन होने तक मन में ठहरे रहते हैं और उसे निमग्न कर डालते हैं वे स्थायी भाव कहलाते हैं !” †

जो भाव रस के उपकारक होकर पानी के बुलबुलों और तरंगों की भाँति उठते और विलीन होते रहते हैं, वे संचारी भाव हैं। ये एक तो स्थायी भाव के सह यक होते हैं और रसों में संचारण मात्र करते हैं।

गुप्त जी के प्रबन्ध काव्यों में प्रत्येक में इतना उत्कर्ष मिल जाएगा।

१. स्थायी भाव :—‘उत्साह स्थायी भाव की व्यञ्जना हाडा कुंभ, अभिमन्यु, अर्जुन, लक्ष्मण, राहुल, जयसिंह, जगद्देव, कुब्जा आदि पात्रों में अच्छी हुई है। हाडा कुंभ बूँदी दुर्ग की रक्षा के लिए सोत्साह कहता है :—

“तोड़ने दूँ क्या इसे नकली किला मैं मान के
पूजते हैं भक्त क्या प्रभुमूर्ति को जड़ जान के ?...
बंदना उस दुर्ग की करने लगा वह भाव से
शोश पर उसने वहाँ की रज चढ़ाई चाव से
शीघ्र रक्त प्रवाह उसकी देह में होने लगा
बीज विद्युद्द्वेग से वीरत्व का बोने लगा !”

❀ रामचन्द्र शुक्ल

† श्याम सुन्दर दास

अभिमन्यु भी उत्साह से श्रोत्रणा करता है :—

“हे तात ! तजिए सोच को, है काम ही क्या क्लेश का ?
मैं द्वार उद्घाटित करूँगा व्यूह बीच प्रवेश का...
हे सारथे ! हैं द्रोण क्या, देवन्द्र भी आकर अड़े
है खेल क्षत्रिय बालकों का व्यूह भेदन कर लड़े...”

लक्ष्मण का उत्साह राम सीता की सेवा, पर्णकुटी की रक्षा में व्यजित होता है। राहुल अपनी माता से कथा, कला का ज्ञान प्राप्त करने की, पितृ-पथ पर चलने की इच्छा बड़े उत्साह से प्रकट करता है। जयभिद्र का उत्साह पहले तो कर का निदेश पत्र फाड़ने में फिर युद्ध स्थली में व्यजित हुआ है—पन्द्रह वर्ष तक खंगार से जूझ कर विजय प्राप्त करता है :—

“हार हुई बार बार तो भी जीत अन्त में
ठानता सो पूरी करके ही वह मानता
छोड़ना न जानता था बान, यही आन थी !”

जगद्देव तो सबके आत्मसमर्पण कर देने पर भी अकेले युद्ध के लिए तैयार है। कुब्जा का उत्साह कृष्ण से प्रेमालाप में व्यंजित हुआ है।

‘रति’ या प्रेम की व्यंजना गुप्त जी ने प्रायः दाम्पत्य जीवन में कराई है यदि व्यापक रूप में भगवान के प्रति प्रेम अर्थात् भक्ति और संतान के प्रति स्नेह अर्थात् वात्सल्य भाव भी इसी के अन्तर्गत ले लिए जायें तब प्रायः सभी प्रधान पात्रों में इसका विधान मिल जायगा। अभिमन्यु के प्रति युधिष्ठिर आदि की ममता, उत्तरा का प्रेम और वियोग पक्ष, युधिष्ठिर की कृष्ण वंदना भी इसमें आ जाती है। ‘पंचवटी’ में सीता राम का मधुरालाप, ‘द्वापर’ में कुब्जा या गोपियों का कृष्ण से प्रेम इसी में है। ‘यशोधरा’ में गोपा-गौतम में दाम्पत्य रति की व्यंजना है राहुल द्वारा वात्सल्य भाव की। रानकदेव खंगार, उधर अणोरराज व कान्चनदेव का प्रेम दाम्पत्य रति है, मीलनदेव द्वारा शिव का ध्यान भक्ति भावना है, और जयसिंह के प्रति वात्सल्य भाव की व्यंजना है :—

“हे उत्तरा के धन रहो तुम उत्तरा के पास ही !...
जाने न दूँगी आज मैं प्रियतम तुम्हें संग्राम में...”

निज प्राण पति के स्कन्ध पर रख कर बदन वह सुन्दरी
करने लगी फिर प्रार्थना नाना प्रकार व्यथा-भरी ”

(जयद्रथ वध)

x

x

x

“बाँए कर से सिर संभाल कर
घर दाँए से ठोड़ी
किया मुझे उत्कर्षित उसने
शक्ति लगा कर थोड़ी...
चिबुक हिलाकर छोड़ मुझे फिर
मायावी मुसकाया
हुआ नया निस्पन्दन उर में
पलट गई यह काया ? ”

(द्वापर)

+

+

+

“संकुचित होके कहाँ जाती राज नंदिनी ?
बन्दी के समक्ष स्वयं वंदिनी सी हो उठी !
आ के जड़ता ने उसे जकड़ लिया वहीं ?
स्तंभ वह भी था, अवलम्ब लिया जिसका
हो गए अचल एक पल को पलक भी
किन्तु वह रूप भार कब तक मिलता ?
आहा ! दूसरे ही क्षण दृष्टि नत हो गई !

(सिद्धराज)

‘क्रोध’ का सुन्दर उदाहरण अर्जुन के क्षोभ व्यक्त करने पर मिलता है जब वह दोनों हाथ मलता हुआ सूर्यास्त तक जयद्रथ को मारने का प्रण करता है अनुभाव भी यहाँ व्यंजित होते हैं :—

“संसार देखे अब हमारे शत्रु रण में मृत पड़े
करते हुए यह घोषणा वे हो गए उठ कर खड़े...
मुख बाल रवि सम जाल होकर ज्वाला सा कोंधित हुआ
प्रलयार्थ उनके मिस वहाँ क्या काल ही क्रोधित हुआ...
दुर्द्धर्ष, जलते से हुए उत्ताप को उत्कर्ष से
कहने लगे तब वे अरिन्द्य, बचन व्यक्त अमर्ष से...
सूर्यास्त से पहले न जो कल मैं जयद्रथ वध करूँ...
तो सपथ करता हूँ स्वयं मैं हो अनल में जल मरूँ...”

शोक' स्थायी भाव की व्यंजना वही माननी चाहिए जब प्रिय से मिलन या संयोग की भावना न रह जाय। दुःख, दैन्य, अवसाद का प्रसंग आने पर करुणा होती अवश्य है लेकिन केवल इसी आधार पर उसे 'करुण रस' के अन्तर्गत नहीं लिया जा सकता। पति मृत्यु के उपरान्त वेदना, दुःखानुभूति शोक है जब कि जीवितावस्था में वही निप्रलम्भ शृंगार के अन्तर्गत आ जायगी। मेरे कहने का मतलब है यशोधरा की करुणा को शास्त्रीय दृष्टि से 'शोक' स्थायी भाव के अन्तर्गत नहीं लिया जा सकता। 'रग में भंग' के अन्तर्गत एकदम विधवा वाला का कुन्दन शोक है, 'जयद्रथ वध' में उत्तरा पति मृत्यु के बाद शोकाकुल है और 'सिद्धराज' में खंगार की मृत्यु के उपरान्त रानकदे तो शोक की मूर्त प्रतिमा ही है—

“रानकदे आप न थी मानो इस लोक में !
मानो एक मौन मूर्ति मन्दिर में बैठी थी
होकर तटस्थ शोक और हर्ष दोनों से
व्यर्थ परिचारिकाएँ करती प्रतीक्षा थीं
वह इस जन्म की समाधि लिए बैठी थी !”

‘भय’ की व्यंजना जयद्रथ वध के प्रसंग में आई हुई है जहाँ गाण्डीव के तीर और रथ के अश्व दोनों ही सक्रिय हो जाते हैं। शत्रु का मस्तक काट कर रण चण्डी को चढ़ाने लगाते हैं :—

“शर रूप खर रसना पसारे रिपु रुधिर पीती हुई
उत्कृष्ट भीषण शब्द करती जान मन चीती हुई
अर्जुन कराग्रोत्साहित प्रत्यक्ष कृत्या मूर्ति सी
करने लगे गाण्डीव मौर्वी प्रलयकाण्ड स्फूर्ति सी !

+

×

+

टूटे हुए रथ थे कहीं, थे मृत गजाश्व अड़े कहीं
थे रुण्ड मुण्ड करादि रण में छिन्न भिन्न पड़े कहीं
इस भाँति अस्तव्यस्त फैले दीखने थे वे सभी
मानो हुई नभ से रुधिर मय वृष्टि यह अद्भुत अभी !”

हास्य, विनोद के भाव तो अनेक स्थलो पर व्यंजित हैं। ‘पंचवटी’ में
भानी-देवर का पारस्परिक हास परिहास है :—

कब से चलता है यह बोले
नूतन शुक रंभा संवाद—” या—

“अजी खिन्न तुम न हो, हमारे ये देवर हैं ऐसे ही
घर में व्याहो बहू छोड़कर यहाँ भाग आए हैं ये।”

‘यशोधरा’ में राहुल-गोपा के सवाद इन भावों की अभिव्यक्ति करते हैं।
‘सिद्धराज’ में एक स्थल है जहाँ काचन्दे “काक भट” का नाम उलट कर
“भटकाका” बना लेती है। दूसरा स्थल है जहाँ दादी को औपधि देने के लिए
“बड़ी मीठी है” कहकर बहलाना चाहती है :—

औपधि का रत्न पात्र देने चली दादी को
किन्तु नहीं सुन, हँस बोली—“बड़ी मीठी है”
हँस पड़े लोग सब और स्वयं रोगिणी
“क्यों री यह पुसखा हुई तू कह कब से ?
बच्चों सा मुझे भी बहलाने जो चली है यों ?
बाल तेरी दादी मैं कि मेरी दीदी आप तू ?”

व्यंग्य भा अनेक स्थलों पर सुंदर व मार्मिक हुआ है

“कोई क्यों न ले ले राज्य, छोड़ दिया राजा ने
जगता है ज्ञान-मंत्र बहुधा श्मशान में !”

गुप्त जी का हास्य व्यंग्य बहुत मर्यादित है, अभिरुचि उसमें बनी रहती है।

२. संचारी भाव :—‘अमर्ष’, ‘उग्रता’, ‘आवेग’ का विधान प्रायः क्रोध और उत्साह के साथ मिलता है। ‘श्रम’, ‘जड़ता’, ‘दैन्य’, ‘चिन्ता’, ‘स्मृति’, ‘मरण’, ‘पद’, ‘स्वप्न’, ‘अपस्मार’, ‘व्याधि’, ‘उन्माद’, ‘विपाद’ आदि की अभिव्यंजना शृंगार के वियोग पक्ष अर्थात् विरह वर्णन में हुई है और ‘हर्ष’, ‘क्रीड़ा’, ‘तर्क’, ‘अलगता’, ‘चलता’ का विधान अधिकतर शृंगार के संयोग पक्ष में हुआ है। ‘स्मृति’ चिन्ता’ के कुछ उदाहरण ‘यशोधरा’ के ४४-४५ पृष्ठों में मिलते हैं, ‘उन्माद’-‘विपाद’ की व्यंजना १०२ पृष्ठों में हुई है। उसके लिए ‘मरण’ भी सुंदर बन आता है। ‘हर्ष’, ‘औत्सुक्य’, ‘भवे’ की व्यंजना इन पंक्तियों में हुई हैं—

‘मेरे भाग्य ? गौतमि, वे संसृति के साथ हैं
आजि उन्हें सिद्धि तो मिली है ? जिसके लिए
राज-ऋद्धि-वृद्धि के सुखों से मुँह मोड़ के
नाते जितने हैं जगती के, उन्हें तोड़ के
इतना परिश्रम उन्होंने किया, साथ ही
सब कुछ मैंने लिया, अनुमति छोड़ कं !”

३. अन्य विशेषता :—गुप्त जी की कविताओं में ‘भावोदय’, ‘भाव शांति’, ‘भाव सधि’ और ‘भाव श्रलता’ के उदाहरण भी मिलते हैं लेकिन भावाभास’ के उदाहरण नहीं।

‘अनुभाव’ और ‘हावो’ का भी उन्होंने विधान किया है। भावो के उपरांत होने वाले भाव अनुभाव है। निम्नांकित पंक्तियों में भुज दण्ड रुड़कना, नथुने फूलना, नेत्र लाल होना आदि अनुभाव हैं—

“उस काल मारे क्रोध के तनु कांपने उनका लगा
मानो हवा के जोर से सोता हुआ सागर जगा...
युग नेत्र उनके जो अभी थे पूर्ण जल की धार से
अब रोष के मारे हुए वे दहकते अंगार से...
तब निकल कर नासा पुटों से व्यक्त करके रोष त्यों
करने लगा विश्वास उनका भूरि भीषण घोष यों...

‘हाव’ क्या हैं ?—“संभोगेच्छादि प्रकाशक नेत्रादि विकारा हावाः”!
‘सिद्धराज’ काव्य में इनकी सुंदर योजना है—

“डाल के विजय दृष्टि, साथ ही विनय से
राना के समक्ष नत रानकदे हो गई
दोनों के दृगो में नीर होठों पर हास्य था
आस भरे फूल खिले जा रहे थे सृष्टि में !

x

x

x

इस प्रकार मानव प्रकृति में जितने अधिक रूपों के साथ गुप्त जी के हृदय का रामात्मक सामंजस्य हम देखते हैं, उतना अधिक आधुनिक हिन्दी कविता में और किसी कवि का नहीं।

४. भावों में गहराई :—ऐसा प्रतीत होता है गुप्तजी भवभूति की भाँति “एको रसः करुण” की सत्यता पर विश्वास करते हैं। जितनी भी उनकी कृतियाँ हैं करुणा की अतिरिक्त सर्वत्र विद्यमान हैं। प्रो० धर्मेन्द्र ने तो एक एक प्रबंध काव्य, मुक्तक, नाटक तथा अन्य कविताओं में भी आद्योपात्त “कारुण्य धारा” खोज निकाली है और यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया है कि—

(१) “कवि को ‘करुण’ अथवा ‘कारुण्य’ का व्यापक अर्थ ही अभिप्रेत है, जिनमें वियोगावस्थाएँ भी उसमें आ जाँय।

(२) कारुण्य धारा कवि के काव्य की प्रधान धारा है !”†

† ‘गुप्तजी के काव्य की कारुण्य धारा’

मैं अपना दृष्टिकोण 'शोक' के संबंध में विचार करते हुए स्पष्ट कर चुका हूँ। अयोध्यासिंह उपाध्याय 'हरिऔध' ने भी 'करुण' को अत्यंत व्यापक बतलाया है।

'रग में भंग' की कथावस्तु करुण है जब वर समेत सारे बराती वीरगति को प्राप्त हुए, विधवा बाला भी "चंदन चिता के ज्वाल जाल मोद में" मिल गई तो "शोचनीय प्रसंग" ही थे, सकता था। गुप्त जी के करुणा प्रिय होने का उदाहरण इसी का अंतिम पत्र है—जहाँ रुदन भी उन्हें अच्छा लगता है—

**"रुदन भी ऐसे समय में लगता बड़ा प्यारा हमें
हे हरे ! निर्मल करे यह नेत्र जल-धारा हमें !"**

'जयद्रथ बध' में दो प्रसंग करुण हैं—उत्तरा का विलाप तथा जयद्रथ का बध। 'पंचवटी' में जैसा प्रो० धर्मेन्द्र का कहना है गुप्त जी ने परिस्थितियों की विषमता द्वारा करुणा उत्पन्न की है। यह दिखलाने की चेष्टा की है कि कारुणिक परिस्थितियों में भी आमोद-प्रमोद की मदकिनी बहाई जा सकती है। कारुण्य चित्रण का यह भी एक प्रकार-विशेष है ! 'यशोधरा'—"देखी मैंने आज जरा" से लेकर "गिरे गोग के ऊपर गाज"—तक आघोपात खेद, अवसाद से शिथिल है। 'सिद्धराज' में रानकदे का विधवा जीवन करुण है। एक हल्की छुआ मालिनदे के चरित्र से मिलती है। 'द्वार' में विधुता की जीवन एक करुण कथा है। मृत्यु की शरण ही उसे शायद सतुष्ट कर पाई हो !

"इस अन्याय समक्ष मरूँ में

कभी नहीं झुक सकती

किंतु आर्य नारी तेरा है

केवल एक ठिकाना

चल तू वहीं, जहाँ जाकर फिर

नहीं लौटकर आना !"

'नहुष' में मनुष्यत्व से पतन ही दुःख पूर्ण है।

अन्य छुट पुट प्रबंधों में भी यह अन्तर्धारा व्याप्त है। 'शकुन्तला' में कथा कारुणिक तो है ही अन्त भी अनुताप से पूर्ण है। 'वन वैभव' का पूर्वार्द्ध करुण है

पाण्डव भिखारी से घूम रहे हैं। 'किसान' अपना करण आत्मचरित ही भारत को समर्पित कर जाता है 'गुरुकुल' की पृष्ठ भूमि दीन दशा से भरी पड़ी है।

करण रस की निष्पत्ति के लिए एक छन्द लीजिए—

“प्रिय मृत्यु का अप्रिय महा संवाद पाकर विष-भरा
चित्रस्थ सी निर्जीव मानो रह गई हत उत्तरा
प्राणेश शव के निकट जाकर चरम दुःख सहती हुई
वह नव बधू फिर गिर पड़ी “हा नाथ ! हा” कहती हुई
फिर पीट कर सिर और छाती, अश्रु बरसाती हुई
कुवरी सदृश सकरुण गिरा से दैन्य दरसाती हुई...

रस की निष्पत्ति विभाव, अनुभाव, संचारी भावों के योग से होती है—“विभावानुभाव व्याभिचारि संयोगा द्रव निष्पत्तिः”। यहाँ उत्तरा आश्रय है जिसके हृदय में स्थायी भाव है शोक। चूँकि वह शव का देवकर उद्बुद्ध होता है अतः प्राणेश शव हुआ आनबन। युद्धभूमि, पति की विषम स्थिति शोक को गहरा करने का वातावरण उपस्थित करती है अतः ‘उद्दीपन’ हुई। उत्तरा का राना, सिर-छाती पीटना, हा हा करना आदि ‘अनुभावों’ के अन्तर्गत है। प्राचीन बातों का स्मरण उसे अधिक अर्थार कर देता है। ‘स्मृति’, ‘दैग्य’, ‘चिता’, ‘उन्माद’ आदि ‘संचारी’ भाव हैं। इस प्रकार करुण रस की पूर्ण निष्पत्ति हुई है।

इस विवेचन से स्पष्ट है गुप्त जी एक ही भाव की गहराई या तीव्रता में मो सफल प्रबन्धकार कवि रहे हैं।

‘उत्साह’ भी गुप्त जी का प्रिय भाव रहा है। प्राचीन राजपूतों का क्षत्रियत्व दिखाने समय और युद्धभूमि में ‘वीर’ रस का सफल निर्वाह हुआ है। अभिमन्यु का युद्ध, ‘जगद्देव’ का विरोध ‘विकट भट’ का उत्कर्ष इसके उदाहरण हैं। कुछ काव्य में अनुपमिक रूप से भी इसकी अभिव्यक्ति हुई है। जैसे ‘वन वैभव’ का उत्तरार्ध वीर रस से सन्निवृत है। ‘गुरुकुल’ में सिक्ख गुरुओं के वर्णन वीर रस प्रधान हैं जिनका लक्ष्य रहा है जाति धर्म के लिए आत्म बलिदान !

‘गुरु अर्जुन ने निज बलि देकर
मानो किया शिला विन्यास

चुना सिखों ने उस पर अपना

अंबर चुन्धी कीर्ति-निवास !”

प्रधानतः करुणा और वीर रसों का परिपाक होने पर भी गुप्त जी की रचनाओं में एक रस और है ‘शृंगार’—जिसका उपेक्षा नहीं की जा सकती। चूंकि गुप्तजी के प्रबन्धों में संयोग पद्म प्रायः कम उभरा है इस कारण इसकी व्याप्ति कम मालूम पड़ती है। वैसे ‘पंचवटी’ में राम-सीता का दाम्पत्य जीवन, ‘द्वापर’ में कृष्ण-कुब्जा का सम्बन्ध, ‘सिद्धराज’ में रानकदे तथा खंगार था और काचनदे व अर्णाराज के प्रेमालाप इसके उदाहरण माने जा सकते हैं जिनमें वाक्चातुर्य भी बहुत है। वियोग पद्म को गुप्तजी के शृंगार रस विवेचन में प्रधानता रही है। शास्त्रीय दृष्टि से तो ऐसे प्रसंग ‘शृंगार’ के विवेचन में ही समाहित कर लेने चाहिए। यशोवरा का भी अतः संयोग होता ही है। यदि ‘शृंगार’ को दाम्पत्य रति तक ही सीमित रखा जाय—जैसा कुछ आचार्यों ने किया है तब गुप्तजी की रचनाओं में इसका स्थान नगण्य ही है। सर्व प्रधान रस ‘करुण’ हो जाता है।

‘हरिऔध’ ने ‘वैदेही वनगम’ की भूमिका में लिखा है “करुण रस हृदय का वह सरस प्रवाह है, जिसे सहृदयता क्यारी सिंचित, मानवता फुलवारी वेक-मित और लोकहित का दरा भरा उद्यान समृज्जित होता है ..” “उन्होंने करुण रस का शृंगार रस पर “अधिकार” दिखाने हुए यह सिद्ध किया है कि करुणा का गहरा पुट होने पर ही शृंगार रस पूरी तरह निखरता है ? महादेवी वर्मा भी वेदना विरह को ही प्रधानता देती हैं—“मिलन का मत नाम ले

मैं विरह में चिर हूं !”

४. शब्द-व्यापार शोधन :—“कवि लोग अर्थ और वर्ण विन्यास के विचार से जिस प्रकार शब्द शोधन कर हैं उसी प्रकार अधिक मर्म स्पर्श और प्रभावोत्सादक दृश्य उपस्थित करने के लिए व्यापार शोधन भी करते हैं। बहुत से व्यापारों में जो व्यापार अधिक प्राकृतिक होने के कारण स्वभावतः हृदय को अधिक स्पर्श करने वाला होता है, भावुक कवि की दृष्टि उसी पर जाती है ..”†

शब्द-शोधन का तात्पर्य काव्य में ऐसे शब्द विन्यास से है जो कवि के विचारों को पूरा पूरा मूर्तिमान कर दें। अनेक पर्यायवाची शब्दों में वह ऐसा शब्द चुनता है जो उसके हृदय में उठते हुए भाव के अनुकूल हो—जैसे उर्मि, लहर, वीचि, तरंग, हिलोर शब्द प्रायः एक ही अर्थ सूचक हैं फिर भी उनमें सूक्ष्म अंतर है। कवि इनमें वह शब्द चुनेगा जो उसके भावानुकूल हो। यह शब्द अपने स्थान पर फिट बैठेगा और दूसरा रख देने से पहली अर्थ व्यंजना नहीं रहेगी। गुप्तजी की कविता से उदाहरण लीजिए—

“फिर पूर्वजों के शील की शिखा तरंगों में बहो !”

यहाँ तरंग शब्द की जगह “हिलोर” शब्द रखा जा सकता है, मात्रा भी उतनी ही रहेगी लेकिन भाव वह नहीं रहेगा। “शिखा तरंगों” में जो मनोमुग्ध-कारिणी, तन्मय कर देने वाली व्यापक अनुभूति है वह “शिखा-हिलोरो” में नहीं है। ऐसा लगता है आदमी एकदम ऊपर उठा फिर दन से गिर गया ! अतः “तरंग” शब्द ठीक है।

“मार्तण्ड मण्डल के उदय की छवि मिली उसको भली !”

यहाँ ‘मार्तण्ड’ के स्थान पर “सूर्य” शब्द रखा जा सकता था लेकिन उतना प्रकाश, प्रखरता और तेज नहीं रहता।

“चढ़ता प्रथम जो व्योम में गिरता वही मार्तण्ड है !”

यहाँ “व्योम” के स्थान पर यदि “गगन” कर दिया जाता तो उतनी ऊँचाई नहीं रहती—यदि “शून्य” कर दिया जाता तो केवल अर्थ ही अष्ट न होता अपितु दोष भी आ जाता !

असंख्य ऐसे वाक्य उदाहृत किए जा सकते हैं जिन्हें कवि ने चुन चुन कर रखा है।

(१) “हे उत्तरा के धन रहो तुम उत्तरा के पास ही !”

“तव छोड़ते कोदण्ड से सब ओर चण्ड-शरावसी !”

(ज० द०)

(२) “स्वर्गीय भावों से भरे ऋषि होम करते थे जहाँ”
 “होते दया के वश द्रवित हैं तप्त हो इस आँच से !”
 (भा० भा०)

(३) “तेरी जननी कहलाऊँ तो
 इस परवस मन को बहलाऊँ !”
 “पर चोरी चोरी गए यही बड़ा व्याघात !”
 (यशोधरा)

(४) “और वाधा देख कर आप्रह सा आ गया
 उसका अलक्ष पक्षपात उसे हो उठा !”
 “सकुचित होके कहाँ जाती राज नंदिनी ?
 आके जड़ता ने उसे जकड़ लिया वहीं !”
 (सिद्धराज)

इसी प्रकार शब्द शोधन के कई उदाहरण हैं। गुप्त जी ने इनका ध्यान रखा है तभी भाषा में व्यञ्जकता आई है।

व्यापार शोधन का तात्पर्य होता है एक प्रसंग से कोई ऐसा कार्य या व्यापार चुन लेना जिसके वर्णन से वह सारा प्रसंग सामने आ जाय। यदि किसी भाव को ही अनुभूति करानी है तो उसके अनेक अनुभावों में वह अनुभाव दिखाया जाय जिससे संपूर्ण भाव की अभिव्यक्ति हो जाय, अर्थात् व्यापार या एक अनुभाव संपूर्ण प्रसंग या भाव में व्याप्त रहेगा। जैसे दैन्य भाव की व्यञ्जना करते समय अनेक व्यापार होंगे—घर घर फिरना, दाँत निकाल कर मॉगना, दरवाजे पर धरना देकर बैठ जाना आदि। कवि उस व्यापार का वर्णन करेगा जिसके द्वारा सारे दैन्य का चित्र सामने आ जाय। गुप्त जी को कवित में इसके उदाहरण भी मिलते हैं।

“किंतु वह रूप भार कब तक भिलता
 आहा दूसरे ही क्षण दृष्टि नत हो गई !”

काचनदे का वर्णन है। अणोरिाज को देखने रहने से उसको लज्जा आ गई इसमें कई व्यापार हो सकते थे—रोम रोम का पुलकित होना, भ्रू, विलास कान नाक लाल हो जाना आदि; किन्तु सर्वाधिक व्याप्त व्यापार है दृष्टि का भुंक जाना। इसलिए गुप्त जी ने “दृष्टि नत हो गई” द्वारा सारे प्रसंग का बोध करा दिया।

‘भुंकार’ आदि सग्रहों में भी इसके उदाहरण हैं। ‘विव ग्रहण’ आदि का विधान भी गुप्त जी की रचनाओं में यथा स्थान मिलता है।

५. कल्पना का उत्कर्ष :—कल्पना वस्तुतः काव्य का प्रधान तत्व है। कवि की दृष्टि जो स्वर्ग से धरती तक और धरती से स्वर्ग तक (From heaven to earth and earth to heaven) अपना विस्तार रखती है, या वह दोनों क्षेत्रों में जिस सरलता से घूम-ती है—निवास करती है (Double lived in regions new) वह कल्पना तत्व के कारण ही। काव्य में भावोत्कर्ष ही कल्पना द्वारा होता है। कवि सब घटनाओं का वर्णन नहीं करता कुछ को चुन कर सार्वकालिक और सार्वदेशिक रूप दे देता है, उसके पात्र प्रतिनिधि होते हैं। ‘भूतनाथ’ जैसा व्यक्ति कभी हुआ हो या न हुआ हो—पाठक को इससे सम्बन्ध नहीं, वह तो कार्य व घटनाएँ देखता है यदि वे मान-वीय हैं तो चरित्र सफल है। लेखक अपनी कल्पना का पुट देकर रूपरेखा को साकार कर देता है।

गुप्त जी के जितने भी पात्र हैं हाडाकुंभ से लेकर नहुष तक, या जितने भी घटनाएँ उन्होंने वर्णित की हैं सब कल्पना शक्ति के आधार पर किया है। अभिमन्यु ने क्या कहा होगा, उत्तरा ने उसे रोका होगा या नहीं या रानकदे ने खंगार से किस तरह व्यवहार किया होगा—इन सब घटनाओं-व्यापारों की संभावनाओं को गुप्त जी ने कल्पना से अनुमान किया और काव्य बद्ध कर दिया। आधुनिक दृष्टि से वे जितना उस युग में संभव सम्भक्त सके—उतना वर्णन कर गए। स्थान-स्थान पर आधुनिक प्रवृत्तियों की छाप भी इसी कारण मिलती है।

“धूम हम हाथ जोड़, मुख रख नीचा ही
मौन नमस्कार” किया उसने नृपांत को—
आदर से “स्वास्त” कह स्वीकृति दो राजा ने...
बोली किसी भाँति वह भौली “आप अच्छे हैं ?”
“रात नहीं भागा यहीं प्रातः क्षेम बन्दो का !”

कथा वृत्त ऐतिहासिक होने पर भी इस भाँति शिष्टाचार प्रदर्शन उस काल में सापेक्ष न हुआ हो लेकिन सभावना देख कर तथा वृत्त की रोचकता बनाए रखने के लिए गुप्त जी ने कल्पना द्वारा इसका विधान कर दिया ।

कही घटनाओं में अनुकूलता लाने के लिए हेर फेर कर दिया है कही नवीन पात्र गढ़ डाले हैं, नए वृत्त जोड़ दिए हैं जो कवि के अभिप्रेत भाव को स्पष्ट करने में निरंतर सहायक होते हैं । कल्पना की सफलता यही है ऐतिहासिकता में बाधा न आए । गुप्त जी ने स्वयं ‘सिद्धराज’ की भूमिका में लिखा है—“पुस्तक में जो घटनाएँ हैं वे ऐतिहासिक हैं । परन्तु उनका क्रम सदिश्य हैं । इसलिये लेखक ने उसे अपनी सुविधा के अनुसार बना लिया है । जो अश काल्पनिक हैं वे आनुपातिक हैं और उनसे ऐतिहासिकता में कोई बाधा नहीं आती ।” इस प्रकार उत्तरा, कीचक, द्रोपदी, कुब्जा, राहुल, मालिनदे आदि पात्रों को ही नहीं अन्यान्य घटनाओं को भी कल्पना द्वारा वर्तमान रूप दे दिया है । ‘जयद्रथ’ ‘नहुष’ नारी पात्रों में अर्न्तद्वन्द्व दिखाना तो स्पष्टतः कल्पना द्वारा सफल हुआ है । ‘सिद्धराज’ में काचनदे का तर्क पितर्क देखिए—

“जो संकोच घटता है परिचय होने से
हाय ! वही बढ़ता है मुझमें न जाने क्यों ?
नीचा मुख रखे दृष्टि ऊँची कर, यत्न सं
मैंने उन्हें देखा है उन्होंने तो नहीं मुझे ?
रह रह कंप रोम, हर्ष होरहा है क्यों ?
अनुभव होता है मुझ क्यों ताप का ?

तो ‘यशोधरा’ में राहुल की बाल-कामना है—

“विहग समान याद अब पख पाता मैं
 एक ही उड़ान में तो ऊँचा चढ़ जाता मैं
 मडल बनाकर मैं घूमता गगन में
 और देख लेता पिता बैठ किस बन में

यह सब कल्पना का उत्कप है। गुप्त जी इस क्षेत्र में भी भावुक हैं।

कभी यह कल्पना स्वतंत्र दृश्य विधान में या प्रकृति चित्रण में भी सहायक हुई है। दो उदाहरण यथेष्ट होंगे—

- (१) “संध्या हो रही है। नील नभ में शरद के
 शुभ्र घन तुल्य, हरे वन में, शिविर के
 स्वर्ण के कलश पर अस्तंगत भानु का
 अरुण प्रकाश पड़ झलक रहा है यो
 झलक रहा हो भरा भीतर का वर्ण ज्यो ।

(सिद्धराज)

- (२) “चारु चन्द्र की चंचल किरणों
 खेल रही हैं जल थल में
 स्वच्छ चाँदनी बिछी हुई है
 अबनि औ अंबर-तल में
 पुलक प्रकट करती है धरती
 हरितवृणों की नोकों से
 मानो भूम रहे हैं तरु भी,
 मन्द पवन के झोकों से !”

(पंचवटी)

यह तो गुप्तजी की प्रबन्ध रचनाओं में भावुकता का विवेचन हुआ। एक दृष्टि अन्य काव्यों पर भी डाली जाय। नाटक लीजिए—‘तिलोत्तमा’, ‘अनघ’ और ‘चन्द्रहास’ ।

‘चन्द्रहास’ में धृष्ट बुद्धि द्वारा निरोह बालक को मारने की आज्ञा देना, विषया तथा चन्द्रहास का प्रेम-प्रसंग और धृष्ट बुद्धि का अन्त में आत्म-समर्पण मार्मिक प्रसंग-घटनायें हैं। अतर्द्वन्द्व सफल है। करुणा का स्थल है जहाँ अधिक चन्द्रहास को मारने ले जाते हैं और उनका हृदय भी पिचल जाता है यह सोच कर कि—

“यह सुकण्ठ अभी कट जायगा
मधुर हास्य सभी हट जायगा
मरल भाव कहीं वह जाएँगे।
रुधिर मांस पड़े रह जाएँगे !”

गुप्त जी ने धार्मिकता के ऊपर भी करुणा की प्रधानता घोषित कर दी है क्योंकि करुणा पात्र और दानी दोनों के लिए मंगलमय होती है।

‘तिलोत्तमा’ के पाँचो अङ्कों में मार्मिक स्थल है। दैत्यो का उत्सव, देवों की तैयारी, अप्सराओं द्वारा सुन्द उपसुन्द का मनोविनोद, इन्द्राणी का निश्चय अनिश्चय—सभी मार्मिक है। दोनों दैत्य मरते समय ग्लानि प्रकट करते हैं। स्वर्ग के अतीत वैभव की स्मृति इन्द्राणी का दुःख और बढ़ा देती है। यह ‘स्मृति’ भाव संचारी माना जायगा :—

“मेरा वह नयनाभिराम वर वैजयन्त सा धाम कहीं
कल्प लता कुँजों से शोभित दिव्य नन्दनाराम जहाँ
हाय विधाता दैत्य ! दस्यु अब करते हैं विश्राम वहाँ
और रुदन भी कठिन हुआ है हमको आठों याम यहाँ !”

प्रकृति चित्रण में कल्पना का उत्कर्ष भव्य है :—

“खिलाती हुई कुसुमावली को चपल अलि दल चूमता
शीतल सुगंध समीर भी है धीर गति से घूमता
मद तुल्य भरनों के अमल जल में कमल-कुल हँस रहा
पर विन्ध्य गिरि भी आज मानों मत्त गज सा भूमता !”

‘अनघ’ नाटक में मद्य-सुरभि का प्रेमालाप, अनुचरों का पड़यन्त्र, राजमहिषी

की उदारता व व्यथा-सुन्दर रीति से प्रस्तुत किए गए हैं। करुणा या विवाद की अन्तर्धारा सर्वत्र व्याप्त है। मद्य ससार की दुर्नीति पर आँसू बहाता है :—

(१) “है ऊपर ऊपर का हँसना, भीतर केवल रोना है”

(२) “यह जन वही है हाय, रुधिराक्त मरण पात्र
धन हेतु जन संहार, यह क्या विषम व्यापार !”

उपर सुरभि विश्व वंदना द्वारा सजीव रहना चाहती है ! राजमहिषी भी “द्रुम दीन दत्त” पर विषाद प्रकट करती है। देशभक्ति, कर्तव्य रत होने का निरंतर उपदेश दिया गया है। ग्राम भोजक की स्त्री कहती है।

“विपुल है वसुधा का विस्तार
चले जाओ अन्यत्र उदार !
झहों पर करे न राज्य विरोध
न ठाने कोई वैर विरोध
वहों जाकर पालो निज धर्म
करो लोकोपकार मय कर्म !”

एक स्थान पर अछूतोद्धार सम्बन्धी विचार भी व्यक्त हुए हैं :—

“इसका भी निर्णय हो जाय
नहीं अछूत मनुज क्या हाय ?
अपमानित अवनत वे दीन
क्या पशुओं से भी हैं हीन ?
मरें भले ही वे बेहाल
तो भी उनकी न हो संभाल ?

इस पर आधुनिक युग का प्रभाव स्पष्ट है। ‘अनय’ की तुलना रामनरेश त्रिपाठी के ‘पथिक’ से और ‘चन्द्रहास’ में धृष्ट बुद्धि की तुलना प्रसाद के विशाल नाटक में नरदेव से की जा सकती है ?

स्फुट मुक्त रचनाओं में मार्मिक स्थलों का तो प्रश्न नहीं उठता लेकिन

भाव विस्तार, सूक्ष्मता, कल्पना की सफलता आदि अवश्य देखे जा सकते हैं। 'भारत भारती' द्वारा स्थिति वैषम्य प्रकट किया गया है। गुप्त जी ने अतीत खण्ड, वर्तमान खण्ड में ओसूही ता बहाए हैं यहाँ तक कि भविष्य की आशा भी उनसे धूमिल पड़ गई है :—

“हत भाग्य हिन्दू-जाति ! तेरा पूर्व दर्शन है कहाँ ?
वह शील, शुद्धाचार, वैभव देख, अब क्या है यहाँ ?
क्या जान पड़ती वह कथा अब स्वप्न की सी है नहीं ?
हम हो “वही, पर पूर्व दर्शन दृष्टि आते हैं कहीं ?”

कविता पर भी चलते चलते व्यंग्य कर दिया है :—

“उद्देश्य कविता का प्रमुख शृंगार रस ही हो गया
उन्मत्त होकर मन हमारा अब उसी में खो गया
कवि-कर्म कामुकता बढ़ाना रह गया देखो जहाँ
वह वीर रस भी स्मर-समर में हो गया परिणत यहाँ !”

‘स्वदेश सगीत’ में भी पूर्व कथा सुनकर उर में अब घोर व्यथा उठती है। एक स्थान पर ‘वृद्ध विवाह’ पर व्यंग्य कितना मार्मिक है, देखिए :—

“आज उदार बना है सूम !
बूढ़े भारत के घर देखो मची व्याह की धूम !
स्वर्ग सौख्य भोगो वर-बाबा ! शय्या पर मुख चूम !”

‘पद्मावली’ में पत्रों द्वारा दुरवस्था, करुणा स्थिति पर प्रकाश डाला गया है। गौरगजेव का पत्र उसकी करुणावस्था का स्वयं सूचक है :—

“अघ-घट अपने में फोड़ के जारहा हूँ
नय-नियम यहाँ के तोड़ के जारहा हूँ
इस तनु तक को भी छोड़ के जारहा हूँ
बस अपयश ही को जोड़ के जा रहा हूँ !”

यह क्षोभ, ग्लानि का निदर्शन गुप्त जी की कल्पनाशक्ति द्वारा हुआ है। महिल्याबाई-राघोबा का पत्र या रूपवती-राजसिंह का पत्र वीर शृंगार भाव प्रधान

है। महाराणा प्रताप के प्रत्युत्तर द्वारा गौरव, वीरत्व व्यंजित है। 'हिंदू' स्थूलतः 'भारत भारती' का ही लघु संस्करण है और 'वैतालिक' में गुप्त जी राष्ट्र को जगाने में तत्पर है। नव प्रभात की उषा द्वारा कर्तव्य रत होने का भाव व्यक्त करते हैं।

'भंकार' व 'मंगलघट' की कुछ कविताएँ भक्ति सम्बन्धी हैं। नाना रूपों से अलङ्कार, अरूप के प्रति भाव व्यक्त किए गए हैं। कहीं विस्मय है, कहीं हर्ष, उत्सुकता भी है, अयमाद भी। कहीं दूतिकाभिसार है तो अश्लेष मित्राभा भी। 'असावधाना', 'उत्कण्ठिता', 'चोर चोर', 'खोज', भक्ति कविताओं में गुप्त जी की माधुर्य भावना व्यक्त हुई। आत्मा केवल 'वचिता' ही नही है 'शरणागत' भी है।

“सर्व अहंकार गर्व
नाथ हुआ आज खर्व
पाऊँ अब प्रगति पर्व
मिटे मोह माया

आया यह दीन आज चरण शरण आया ?”

अनूदित रचनाओं 'विरहिणी व्रजागना', 'मेघनाद वध', 'पलासी का युद्ध', 'स्वप्न वासवदत्ता' में भी भावों का संवर्ष, उतार चढ़ाव अच्छा है। करुणा की अतर्धारा यहाँ भी मिलेगी।

इस प्रकार सभी रचनाओं में गुप्त जी का भाव प्रवणता लक्षित होती है। यही भाव शेष सृष्टि के साथ हमारा रागात्मक साम्य कराते हैं और रस की दृष्टि से उन्हें करुण रस प्रधान कवि ही मानना चाहिए।

अध्याय ११

शैली का विवेचन

शैली वस्तुतः अभिव्यक्ति का प्रकार है अर्थात् कवि या लेखक किन उपादानों से भावों की व्यञ्जना करता है। चूँकि इस चुनाव पर लेखक के दृष्टिकोण, अध्ययन का प्रभाव रहता है अतः शैली में वैयक्तिक तत्व आ जाता है। उसे भाषा का व्यक्तिगत प्रयोग कहा जा सकता है। किसी वाक्य या पैराग्राफ या कविता को पढ़-सुन कर ही हम बतला देते हैं यह प्रसाद की है, पंथ की या प्रेमचन्द की। यह अन्तर शैली की विशेषता के कारण है। गुप्तजी की भाषा-शैली भी इसी तरह अलग से पहचानी जा सकती है। उसमें कुछ ऐसी विशेषताएँ या अभिव्यक्ति कौशल हैं जो अन्य कवियों की भाषा-शैली में नहीं। अब तो आलोचक शैली को महत्व देते हुए यहाँ तक कहने लगे हैं कि कवि “क्या कहता है—यह उतना ध्यान देने योग्य नहीं बल्कि “कैसे” पर ध्यान देना चाहिये।” “It is the style and not the matter that moves us, the presentation and not the object itself.” †

“It is of no consequence what a poet says so long as he says the thing well. The ‘what’ is practically indifferent. It is ‘how’ that counts.”

शैली के अंतर्गत कवि की शब्द योजना वाक्यांशों का प्रयोग, वाक्यों की बनावट, उनकी ध्वनि, अलंकार, छन्द आदि का विवेचन होता है। गुप्तजी की भाषा शैली की विशेषताएँ इन्हीं के अंतर्गत रखी जा सकती हैं।

रचनाओं में गुप्त जी की शैली के अनेक रूप मिलते हैं।

१. प्रबंधात्मक शैली :—यह रूप प्रधान है, कवि सफल भी रहा है ऋतना प्रवाह व चरित्र चित्रण द्वारा भावी की सुंदर अभिव्यक्ति हुई है। 'रंग में भंग', 'जयद्रथ वध', 'सिद्धराज', 'नहुष', 'साकेत' आदि में इसका उपयोग हुआ है। अभिमन्यु, जयसिंह, राम-लक्ष्मण आदि पात्र जीवन की विविध परिस्थितियों द्वारा विभिन्न विचार व्यक्त करते हैं। महाकाव्य केवल 'साकेत' है। काव्य की दृष्टि से 'पंचवटी' सर्वोत्तम खण्ड काव्य का कथाकाव्य माना जा सकता है। डा० सत्येन्द्र 'जयद्रथ वध' को अधिक भावुक-कलापूर्ण एवं 'सिद्धराज' को "विशेष बौद्धिक" मानते हैं।

२. अलंकृत उपदेशात्मक शैली :—इसमें 'हिन्दू', 'गुरुकुल' आदि रचनाएँ हैं। कहीं बिल्कुल ही सामान्य हो जाते हैं जिसे केवल पद्य रचना कहना चाहिये—

(१) "भाषा का संदेश सुनो, हे
भारत कभी हताश न हो।"

× × ×

"अब भी हो तुम कृषि प्रधान
गोबर का तो रक्खो ध्यान !"

(हिन्दू)

(२) "राजद्रोही कहें गए गुरु
भर कर झूठी साखी साख
सुनी गई उनकी न एक भी
दण्ड हुआ उन पर दो लाख !"

(गुरुकुल)

पहली शैली के दो उदाहरण देखे जा सकते हैं : —

(१) "यह अति अपूर्व कथा हमारे ध्यान देने योग्य है
जिस विषय से संबंध हो वह जान लेने योग्य है

अतएव कुछ आभास इसका है दिया जाता यहाँ
अनुमान थोड़े से बहुत का है किया जाता यहाँ !”

(जयद्रथ वध)

(२) “चल अयोध्या के लिए सज साज तू
मों मुझे कृत कृत्य करदे आज तू।”

x

x

x

“लेखनी अब किसलिए विलंब
बोल जय भारत, जय जगदंब
प्रकट जिसका यों हुआ प्रभात
देख अब तू उस दिन की रात !”

(साकेत)

इन पंक्तियों के सम्बन्ध में गुप्तजी ने लिखा है—“यदि हम किसी निबंध की एक एक पंक्ति में रस खोजने लगेंगे तो काव्यों की तो बात ही क्या, महाकाव्यों को भी अपना स्थान छोड़ने के लिए बाध्य होना पड़ेगा। एक एक स्तरे में फूल खोजने की चेष्टा व्यर्थ होगी और ऐसे फूलों का कोई मूल्य भी नहीं रह जाएगा। फूल के साथ पत्ती भी रहती ही है और सच पूछिए तो पत्तियों के बीच में ही वह ‘खिलता’ है !” †

किंतु इस शैली में जहाँ सौंदर्य व सरसता आ गई है, वहाँ कवित्व निस्तरा भी है :—

“अंबुज भी हैं खिले हुए
हेला से कुछ हिले हुए
रहते हैं वे जल पर मों
कि तुम रहो भूतल पर ज्यों !”

(बैतालिक)

३. विवरणात्मक शैली:—जहाँ कवि स्वयं विवरण देकर किसी अवस्था

† ‘हिन्दू की भूमिका’

का वर्णन करता है। यह सबसे सरल व भावाभिव्यक्ति का सीधा रूप है।
‘भारत भारती’ इसका उदाहरण है। उद्बोधन में यह शैली प्रभावशाली होती है !

“उन पूर्वजों की कीर्ति का वर्णन अतीत अंगार है
गाते नहीं उनके हमों गुण, गा रहा संसार है
वे धर्म पर करते निष्ठावर तृण समान शरीर थे
उनसे वही गंभीर थे, वर वीर थे, ध्रुव धीर थे !”

४. गीति शैली :—इसका उपयोग ‘भकार’ तथा ‘साकेत’, ‘यशोधर’
के कुछ स्थलों पर हुआ है। लय और संगीत यहाँ भावों का सौन्दर्य बढ़ाने है।

(१) “मैं निहत्था जा रहा हूँ इस अंधेरी रात में
हिंसा जीव लगे हुए हैं प्राणियों को घात में
गूँजती गिरि गहवरों में गर्जना है
विषम पथ में गर्जना है, तर्जना है !”
(भकार)

(२) “दोनों ओर प्रेम पलता है
सखि, पतंग भी जलता है ! हा दीपक भी जलता है ?
सीस हिला कर दीपक कहता—
‘बन्धु वृथा ही तू क्यों दहता ?’
पर पतंग पड़ कर ही रहता, कितनी विह्वलता है !”
(साकेत)

(३) ‘रुदन का हँसना ही तो गान !
गा गा कर रोती है मेरी हृत्तंत्री की तान !
मीड़ मसक है कसक हमारी और गमक है हूक
चातक की हुत हृदय हूति जो सो कोइल की हूक
राग हैं सब मूर्च्छित आद्वान ! ”
(यशोधर)

यह शैली उत्तरोत्तर भाव प्रधान होती गई है, शब्द विन्यास भी अधिक अनुकूल होता गया है।

५. नाट्य शैली:—आलोचकों का कहना है गुप्त जी इसमें सबसे कम सफल हुए हैं। 'तितोत्तमा', 'चन्द्रहास', 'अनय' भी इसका उदाहरण माना जा सकता है। 'गिरीश' ने तो स्पष्ट लिखा है, "वास्तव में उनकी प्रतिभा नाटक रचना के सर्वथा अनुपयुक्त है। उनके तीन नाटकों में से किसी में भी गति नहीं है, परिणाम सम्बन्धी उत्कण्ठा उत्पन्न करने की शक्ति नहीं है।"†

डा० सत्येन्द्र ने तो गीति शैली में भी गुप्त जी को असफल माना है "अंतर सौंदर्यानुभूत को स. ज. वेदना शील अभिव्यक्ति के बिना (Lyric) प्रगीत मय गीत हो ही नहीं पाता। गुप्त जी अपने गीतों में इसे नहीं ला सके हैं—उनके करुण से करुण छन्द भी करुणा के नहीं, करुणा की उक्ति (Argument) के छन्द हैं। उन्होंने उस प्रगीतात्मकता को लाने का उद्योग किया है पर उनके अपने धारणा-चक्र ने इसमें रस नहीं उड़ेलने दिया।"*

६. आत्म प्रधान शैली:—पात्र अपने उद्गार स्वयं व्यक्त करते हैं। 'द्वापर' की यही शैली है। उदाहरणार्थ देवकी कहती है:—

“अब अपमान छूटने में भी
क्रूर कस के द्वारा
मेरा लाल छुड़ा न सके तो
भली मुझे चिर कारा !”

७. मिश्र शैली:—इसमें गद्य, पद्य, गीत संवाद—सभी के द्वारा भाव अभिव्यक्त कराए गए हैं। उदाहरण है 'यशोधरा'।

(१) “राहुल—अहा हा ! यह राज योग है। चित्रा, दर्पण तो लाना।
यशोधरा—रहने दा बेटा, तू ही मेरा दर्पण है। अरे, यह चित्रा
क्या लाई ?

विचित्रा—जय हो देवि, महाराज ने कुमार के लिए यह वीणा भेजी है, और पूछा है वे कब तक आते हैं ! ”

शुद्धोधन

(२) बेटी, इतना भी अधिकार क्या हमे नहीं ?

यशोधरा

मुझको कहाँ है ? मैं तुम्हारी नहीं, अपनी बात कहती हूँ तात ! गोपा हत भागिनी !

महाप्रजावती

गोपे, हम अबला जनो के लिए इतना तेज नहीं, दर्प नहीं, साहस क्या ठीक है ?...”

(३)

“चाहे तुम सम्बन्ध न मानो ;

देखू एकाकी क्या लोगे ?

गोपा भी लेगी, तुम दोगे

मेरे हो तो मेरे होंगे

भले हो पहचानो !...” (आदि)

इन विभिन्न शैलियों के प्रयोग से यह भी स्पष्ट हो जाता है गुप्त जी कितना समय के साथ चले हैं । ज्यों-ज्यों साधारण जनता में गीति काव्य प्रिय होता गया वे भी अपनी रचनाओं में गीत तत्व बढ़ाते गए ! ‘द्रापर’ में तो ऐसे ही पात्रों का चित्रण रह गया है जो केवल अपनी ही अनुभूति व्यक्त करते हैं, जैसा वर्तमान हिन्दी कविता के अन्य क्षेत्रों में स्पष्ट लक्षित हो रहा है ।

अब शैली की विशेषताएँ देखी जाय ।

प्रवाह पूर्णता

गुप्त जी की कविता में प्रवाह निरंतर मिलता है । भाषा चुस्त, गठी हुई अतः प्रभावात्मक है, उसमें शिथिलता नहीं आदि है । कभी यह प्रभाव छन्द के एक चरण से दूसरे चरण तक है, या संपूर्ण छन्द में एक मान है । ‘रंग में भंग’, ‘भास्त भारती में’ कही मथरता अवश्य है और परवर्ती रचनाओं में प्रायः नहीं ।

आरम्भ में संस्कृत शब्दावली अग्र्य बाधक होती है किन्तु 'साकेत' तक वह मँज चुकी है और 'सिद्धराज' में पूर्ण उत्कर्ष पर पहुँच गई है। इस प्रबन्ध काव्य का एक भी स्थल ऐसा नहीं जो शिथिल हो या प्रवाह धीमा पड़ गया हो। 'यशोधरा', 'साकेत' भी गठा हुआ है। जहाँ भाषा व्यवहारिक हो गई है। विष्कुल सरल-वहाँ यह प्रवाह बढ़ गया है :—

(१)

“हे राम, तुम्हारा वंश जात
सिद्धार्थ, तुम्हारी भौंति तात
घर छोड़ चला यह आज रात
आशीष उसे दो, लो प्रणाम !”

(यशोधरा)

(२)

“तदनंतर बैठी सभा चटज के आगे
नीले वितान के तले दीप बहु जागे
टकटकी लगाए नयन सुरों के थे वे
परिणामोत्सुक उन भयातुरों के थे वे
उत्फुल्ल कराँजी-कुंज वायु रह रह कर
करती थी सब का पुलक पूर्ण मह मह कर”

(साकेत)

(३)

“एक क्षण ऐसा इस जीवन में आता है
एक दृष्टि में जो नई सृष्टि रच जाता है !
यौवन का बोध अकस्मात् ही तो होता है
मुग्धा पल भर में ही मध्या बन जाती है
खिच खिच जाता मन कहीं जब तन से
भाता है विशेष तब जन की विजन ही !”

(सिद्धराज)

भावानुरूपता

शैली की दूसरी विशेषता है भावानुकूल होने की। जैसे भाव हृदय में उत्पन्न होते हैं वैसे ही शैली भी है। हास-परिहास में यदि सरसता है तो शैली

भी सरस है; वीर भावों की व्यञ्जना होती है तो शैली उसी के अनुकूल हो जाती है, युद्ध का वर्णन है तो वही रुद्धता, ऊबड़-खाबड़ता, ओज शैली में भी आ जाते हैं। शृंगार का प्रसंग है तो वह भी मधुर-मधुर हो जाती है और अवसाद, खेद, वेदना है तो शैली द्वारा भी गंभीरता टपकती है। वातावरण के अनुकूल कविता के बीच में शैली परिवर्तित भी हो जाती है। 'साकेत', 'यशोधरा', 'नहुष' इसके अच्छे उदाहरण हैं।

(१) रानकदे की सक्रियता भाषा में भी प्रकट है—

“घर के निकट कुछ पेड़ पौधे रोपे थे
और बना ली थी एक वाटिका सी उसने
गोड़ती थी, सींचती थी, आप वह उसको
पानी खींचती थी नित्य प्रातःकाल कूप से !
दाँए और बाँए घूम घूम भूम भूम के
आता लूम लेता हुआ पूर्ण घट नीचे से
पाती गहरे का रसबूँद गुणशालिनी !
राग रह जाता, स्वेद भाग बह जाता था
यों व्यायाम और काम संग संग होते थे !”

(सिद्धराज)

(२) सवाई जयसिंह का सोत्साह सभा में प्रविष्ट होना—

“निर्भय मृगेन्द्र नया करता प्रवेश है—
बन में ज्यों डाले बिना दृष्टि किसी ओर त्यों,
भोर के भभूके सा, प्रविष्ट हुआ साहसी
बलबीर, मन्द मन्द धीर गति से धरा
मानो धँसी जा रही थी, वदन गंभीर था
उठता शरीर मानो अंग में न आता था
वक्षस्थल देख के कपाट खुले जाते थे ”

(विकट भट)

(३) अर्जुन का विकराल युद्ध व्यञ्जित है—

“शर-रूप खर-रसना पसारे रिष्ट रुधिर पीती हुई
उत्कृष्ट भीषण शब्द करती जान मनचीती हुई
टूटे हुए रथ थे कहीं थे मृत गजाश्व अड़े कहीं
थे रुण्ड मृण्ड करादि गण में छिन्न भिन्न पड़े कहीं !”

+

×

×

और अभिमन्यु ने—

“केवल कलाई ही कुतूहल बश किसी की काट दी
क्षण मात्र मे ही आर गणां मे भूमि उसने पाट दी...”

(जयद्रथ वध)

(४) यशोधरा की मूर्छा भी शैली से व्यंजित है—

“मेरा सुधा सिंधु मेरे सामने ही आज तो
लहरा रहा है, किन्तु पार पर मैं पड़ी
प्यासी मरती हूँ हाय ! इतना अभाग्य भी
भव में किसी का हुआ ? कोई कहीं ज्ञाता है
तो मुझे बता दे हा ! बता दे हा ! बता दे हा !”

(यशोधरा)

चित्रात्मकता

मूर्त चित्रण करने में गुप्त जी बहुत कुशल है—वह चाहे प्रकृति का हो,
दृश्य का हो, भाव का हो या पात्र, मुद्रा, चेष्टा का हो ! उसे साक्षात् नेत्रों के
सम्मुख उतार देते हैं। इसमें उनकी सूक्ष्म निरीक्षण शक्ति का पता चलता है,
और भाषा पर अधिकार का मो। जैसा चाहते हैं, घुमा देते हैं।

१. प्रकृति-चित्रण तो ‘साकेत’, ‘पंचवटी’, ‘सिद्धराज’ में भरा पड़ा
है। सध्या, रात्रि, उषा के उत्कृष्ट निरूपण मिलते हैं जो कभी भाषानुकूल वाता-
वरण भी उपस्थित करते हैं—

“रात हो चुकी थी दीप दीपित था पौर म,
काँपती शिखा सी लिए आँगन में रूपसी

रानकदे संकुचित और नत थी खड़ी
था खंगार सम्मुख सजीव एक चित्र सा !
देखती थी ऊपर अनंत तारा-मण्डली
द्वन्द्व जगती का यह, नीरव निम्पंदिता !”

आलंबन रूप में प्रकृति चित्रण ‘पंचवटी’ तथा ‘सिद्धराज’ के आरम्भ में हुआ है। वियोग में समय कितना जल्दी-जल्दी बीतता है व्यथा पूर्ण रहता है इसका विधान ‘साकेत’ में है। जैसे कवि पंत को स्वर्ण का रंग बहुत पसन्द है वैसे गुप्तजी को उषा काल का। ‘साकेत’ में केवल कथा वृत्त का आरम्भ ही उषा से नहीं होता अपितु चार पांच स्थानों पर इसका विधान है—

“मूँदे अनन्त ने नयन, धार वह भांकी
शशि खिसक गया निश्चित हँसी हँस बाकी
द्विज चहक उठे, हो गया नया उजियाला
हाटक-पट पहने दीख पड़ी गिरि-माला !”

चारण महोदय के ऐश्वर्य, वैभव की प्रशंसा करता है—

“पर्वत दिए हैं उन्हें उनकी धरित्री ने
गढ़ दृढ़ दुर्ग दिए उसको उन्होंने हैं
उपमा न पाकर बने हैं उपमान जो
मंदिरों में दर्शन हों चाहे जिस मूर्ति के
प्रथम प्रतिष्ठा वहाँ होती है कला की ही !”

२. भाव-चित्रण के दो उदाहरण लीजिए—

(१) “चंचला सी छिटक छूटी रमिला”

(२) “प्रिया कंठ से छूट सुभट कर शस्त्रों पर थे
त्रस्त-वधू जन हस्त सुस्त से वस्त्रों पर थे !”

अयोध्या नगरी का वर्णन कवि ने दृश्य चित्रण द्वारा किया है।

“सोहती है विविध शालाएँ बड़ी
झूत उठाए भित्तियाँ, चित्रित खड़ी

स्वच्छ सुन्दर और विस्तृत घर बने
इन्द्र धनुषाकार तोरण हैं तने...
सर्वादा स्वच्छन्द छज्जों के तले
प्रेम के आदर्श पारावत पले

×

×

×

ठौर ठौर अनेक अध्वर-सूप हैं
जो सुसवत के निदर्शन रूप हैं ..
यत्र तत्र विशाल कीर्ति स्तंभ हैं
दूर करते दानवों का दंभ है...!!

ये चित्रण नगरी का पूर्ण वैभव सामने ला रखते हैं। इसी तरह नागरिकों की सम्पन्नता दृश्यो द्वारा वर्णित है। एक स्थान पर विराट शून्य का ही चित्र सामने रख दिया है।

“सखि, देख दिगंत है खुला
तम है, किंतु प्रकाश से धुला !”

भाषा की चित्रण शक्ति का एक उदाहरण ‘यशोधरा’ से लीजिए—

“ऊपर तारे झलक रहे हैं
गोखा से लग ललक रहे हैं
नीचे मोती ढलक रहे हैं
मेरे अपलक दर्शन, सो !”

ऐसा ज्ञात होवा है सचमुच कोई माता गांद मे बच्चों को लेकर थपथपाती हुई सुला रही हो !

“गई लग आग सी सौमित्रि भड़के
अधर फड़के प्रलय धन तुल्य तड़के—”

यहाँ आक्रोश रोष भाव स्वयं मूर्तिमान हो गए हैं। एक वर्णन और देखिए—

“कुलिश किसी पर कड़क रहे हैं
 आली तो गह तड़क रहे हैं
 कुछ कहने के लिए लता मे
 अरुण अधर ये फड़क रहे हैं।”

वस्तुतः लता की पत्ती हवा से हिल रही है लेकिन गुप्तजी ने वर्णन ऐसा किया है — जैसे वह पत्ती सचमुच लाल कोपल हिलाती हुई कुछ सदेश देने या भेजने के लिए हाँट ग्योली रही है !

३. इसी कुशलता से पात्र-चित्रण भी है। वे अण्णोराज का व्यक्तित्व इन शब्दों में सामने लाते हैं —

“कितना अभीत वह कितना विनीत है
 कैसा भद्र, कैसा भला और कैसा भोला है !
 दीप्त भाल, करके बाल, नयन विशाल क्या,
 भृकुटी कुटिल और नासा क्या सरल है
 लाल लाल हाँठ हसना ही सदा चाहते
 किंतु बीच बीच में कठोरता झलकती
 हाथ लम्बे लम्बे और पक्ष चौड़ा चौड़ा है,
 डग है अडग जैसे धरती दबाते हों।
 होकर अकेला भी विपत्तियों के बीच में
 कहता है कैसे अनायास बात अपनी
 हारा किंतु आन-वान हारी नहीं उसने !
 वाणी अर्थ पूर्ण अहा स्वर क्या गंभीर है
 मानो किसी अन्य की अपेक्षा नहीं उसको
 मानो परिपूर्ण वह अपने ही आप में !”

उसकी शारीरिक गठन, अंग प्रत्यंग ही नहीं एक एक गुण सामने आ जाता है। ऐसे चित्र उन्होंने सिद्धराज जयसिंह के ‘विकट भट’ में सवाई सिंह के दिए हैं। यही सफलता उनके नारी चित्रों में भी है जिनमें वे गठन की कम, गुणों की

अधिक चर्चा करते हैं। पात्र चित्रण के दृष्टिकोण में यह अंतर माना जा सकता है। शृंगार उनका बहुत संयम है। रानकदे का चित्र लिया जा सकता है। रीतिकालीन कवियों की तरह केश, नासिका अधर नेत्र आदि का अलग अलग वर्णन न करके केवल दो वाक्यों द्वारा अभिव्यजना कर दी है :—

“देखकर पल्लव में फूली हेम-नलिनी
चौंका कर चारों ओर चर्चा चली उसकी...”

और पहले गुण वर्णन खूब किया है :—

‘साकेत’ में भी “गोल गोल गोरी बाहों” की चर्चा करते हुए गुप्त जी श्लेष कौशल द्वारा उरोज वर्णन की रत्ना करते हैं :—

“भाग सुहाग पक्ष में थे
अचल वद्ध कक्ष में थे !”

तो पुरुष-चित्रण में दोनों पक्षों पर ध्यान रखा है, नारी चित्रण में बहुधा एक ही पक्ष पर। यह विशेषता है।

४. मुद्राकन तथा चेष्टाओं का वर्णन भी सफल है लक्ष्मण जब जाने लगे तो उर्मिला ने प्रणाम किया:—

“चूमता था भूमि तल को अर्ध विधु सा भाल
बिछ रहे थे प्रेम के दृग-जा बन कर बाल
छत्र सा ऊपर उठा था प्राणपति का हाथ
हो रही थी प्रकृति अपने आप पूर्ण सनाथ !”

या— “डाल के विजय दृष्टि साथ ही विनय से
राना के समक्ष नत रानकदे हो गई
दोनों के दृगों में नीर ओठों पर हास्य था
ओस-भरे फूल खिले जा रहे थे सृष्टि में
पुलक रहा था वायु मण्डल महकता
वीर के गले में पड़ी पुंढरीक-माला सी
पत्र-रचना सी थी कपोलों पर बाला के !

ये चित्र विशेष मुद्राओं को प्रस्तुत करते हैं और साक्षात् आँखों के सामने आ जाते हैं। रेखांकित शब्दों की व्यञ्जना कितनी अधिक है 'पञ्चवटी' का एक चित्रण "कटि के नीचे चिकुर जाल में उलझ रहा था बाँया हाथ" भी इसका उदाहरण है।

ऊपर तो स्थिर मुद्राकन है। गुप्त जी गत्यात्मक दृश्य व चित्र भी प्रस्तुत करने में सफल है:—

- (१) "भुका कर सिर प्रथम फिर टक लगा कर
निरखते पार्श्व से थे भृत्य आ कर।"
- (२) तनिक ठिठक कुछ मुड़ कर बाँए
देख अजिर में उनकी ओर।"
- (३) "तिरछी यह दृष्टि हो उठी
ताकती सी यह सृष्टि हो उठी--" या—
"पकड़ कर राम की ठोड़ी ठहर के
तथा उनका वदन उस ओर करके--"

आदि कितने ही चित्र मिलेंगे जो हिलते हुए गति शील होकर भाव व्यक्त करते हैं। ये दृश्य परिवर्तन गति लाने के साथ ही कथा प्रवाह में रोचकता भी लाते हैं। लक्ष्मण का आवेश में घोड़े पर चढ़ना, सरपट दौड़ा देना एक दृश्य चित्रण में और देखिए :—

"सिर पर नत शत्रुघ्न भरत निर्देश भरे थे
पर 'जो आज्ञा' कह न सके आवेश भरे थे
छूकर उनके चरण द्वार की आर बढ़े वे
भोंके पर ज्यों गंध, अश्व पर कूद चढ़े वे
निकला पड़ता वल्ल तोड़ कर वार हृदय था
उधर धरातल छोड़ आज उड़ता सा हय था
जैसा उनके क्षुब्ध हृदय में धड़ धड़ धड़ था
वैसा ही उस वाजि-वेग में पड़ पड़ पड़ था।"

वे इतने व्यस्त हो गए हैं कि “जो आज्ञा” भी नहीं कह पाए। आवेश की अधिकता में इसे भूलना स्वाभाविक ही था।

गुप्त जी की दृष्टि तो इतनी सूक्ष्म है कि चरणों को ललाई तक पहुँच जाती है। अत्यंत लज्जा में विशेष कर स्त्री अंगुली में धोती का छोर लपेटने लगती है। अत्यंत कोमलता में चरण दबाने से एड़ियाँ लाल हो जाती हैं—इतने सूक्ष्म व्यापारों तक को गुप्त जी ने चित्र बद्ध कर दिया है !

(१) “सुन देख हुई विभोर मैं
बटती थी परिधान छोर मैं !”

(२) “पाकर विशाल कच भार एड़ियाँ धँसती
तब नख ज्योति मिष मृदुल अंगुलियाँ हँसती
पर पग उठने में भार इन्हीं पर पड़ता
तब अरुण एड़ियों से सुहाग सा झड़ता !”

एक गति चित्र और देखिए—

“देखा प्रिय को चौँक प्रिया ने, सखी किधर थी
पैरो पड़ती हुई उर्मिला हाथों पर थी !”

यहाँ पर उर्मिला का पैर छूने के लिए झुकना, शरीर की शिथिलता और उससे भी शीघ्र लक्ष्मण का आगे बढ़ना, गिरते गिरते हाथों पर अटका लेना—इतने चार व्यापार केवल एक पंक्ति द्वारा व्यञ्जित है। यहाँ कौशल गुप्त जी की शैलीगत विशेषता है।

५. शब्दों द्वारा मूर्त चित्रणः—यहाँ गुप्त जी शब्द विधान द्वारा दृश्य या चित्र का प्रत्यक्ष वर्णन नहीं करते अपितु उसका संकेत कर देते हैं—

१. “हुआ देवी का दुगावेश”
२. “चुटीली फणिनी सी फुंकार”
३. “सिंहिनी साती थी सबिकार”

४. “पड़ी थी बिजली सी विकराल”

५. “कौन छेड़े ये काले सॉप ?”

यहाँ ‘दुर्गा,’ ‘फणिनी,’ ‘सिहिनी,’ ‘बिजली,’ ‘सॉप’ शब्द एक अलग-अलग पूर्ण चित्र उपस्थित करते हैं जो अप्रत्यक्ष है केवल नेत्रों के सामने आते हैं तब उनके द्वारा कैकेयी को विकरालता का बोध होता है।

हास्य व्यंग्यात्मकता

मधुर हास्य-विनोद मीलनदे व क्षत्राणी के वार्तालाप में, रानकदे खंगार के वार्तालाप में, सीता-लक्ष्मण के सम्बन्ध में तथा लक्ष्मण उर्मिला के कथोपकथन में अच्छा मिलता है।

(१) “किंतु हँस बोली वह—गोकुल की गोपी सी
आईं तुम खोजने को चित चोर अपना
किंतु याद रखना यहाँ भी हैं सपत्नियाँ !”

(२) ‘पंचवटी’ में सीता परिहास करती है:—

“माना, इनके निकट नहीं है
इन्द्रासन की कुछ गिनती
किंतु अप्सरा की भी क्यों ये
सुनते नहीं नम्र विनती ?

+

+

+

देने ही आई है तुमको
निज सर्वस्व बिना संकोच
देने में कार्पण्य तुम्हें हो
तो लेने में है क्या सोच ?

(३) ‘साकेत’ में दपतियों का विनोद है—

“मुसकरा कर अमृत बरसाती हुई
रसिकता में सुरस सरसाती ॐ है

उर्मिला बोली—‘अजी तुम जग गए ?’

स्वप्न निधि से नयन कष से लग गए ?—तो लक्ष्मण उत्तर देते हैं—

“मोहिनी ने मंत्र पढ़ जब से छुआ

जागरण रुचिकर तुम्हें जब से हुआ !”

यह शिष्ट और मधुर विनोद है जिसका उदात्त रूप गुप्त जी ने निखार दिया है। अशिष्ट हास्य कही नहीं मिलेगा—किसी की दुस्वस्था पर भी नहीं।

व्यंग्य के सुन्दर उदाहरण ‘भारत भारती’ में है जहाँ महतो, रईसों, नेता-गणों में किसी को भी न छोड़ कर गुप्त जी ने चोट की है—

“क्या मर्द है हम बाह वा ! मुख नेत्र पीले पड़ गए
तन सूख कर काँटा हुआ, सब अंग ढीले पड़ गए !
मर्दानगी फिर भी हमारी देख लीजे कम नहीं
ये भिन भिनाती मक्खियाँ क्या मारते हैं हम नहीं

या

“अब मंदिरों में राम जनियों के बिना चलता नहीं
अश्लील गीतों के बिना वह भक्ति फल फलता नहीं
वे और हरणादिक वहाँ प्रत्यक्ष लीला जाल हैं
भक्त स्त्रियाँ हैं गोपियाँ, गोस्वामि ही गोपाल हैं !”

कैसा करास व्यय हमें कबीर की वाणी में ही उपलब्ध होता है—

“पंडित होइ कै आसन मारे लंबी माला जपता है—

अंतर तेरे कपट कतरनी सो भी साहब लखता है !”

गुप्त जी के व्यंग्य से भाँ पात्र तिलमिला उठता है।

संवाद कुशलता

कथोपकथन की सार्थकता, प्रवाहात्मकता की दृष्टि से गुप्त जी को अगर मैं आधुनिक केशव दास कहूँ तो अत्युक्ति न होगी ! एक तो कविता द्वारा उत्तर-प्रत्युत्तर जो वस्तुतः नाटक का तत्व है, दूसरे पात्रों के चरित्र पर प्रकाश डालते हुए वक्त्रों में सजीवता लाना—वह भी सीमित छन्द में—बहुत कठिन

कार्य है। किन्तु गुप्त जी की कविता में जहाँ जहाँ ऐसे प्रसंग आए हैं भाषा उतनी ही जोरदार होती गई है। वर्णनात्मक प्रसंगों में चाहे कहीं साथ न दे पर संवादों में ऐसा नहीं हो सकता। चाहे 'जयद्रथ वध' हो 'विकट भट', 'रंग में भंग' हो या 'पंचवटी' 'साकेत'—कोई भी रचना हो कथोपकथन गुप्त जी के सर्वत्र सफल एवं मार्मिक हुए हैं।

मंथरा-कैकेयी संवाद कथा को तो अग्रसर करता ही है, उनके चरित्रों पर भी प्रकाश डालता है—

न समझी कैकेयी वह बात
 कहा उसने—यह क्या उत्पात ?
 बचन क्यों कहती है तू वाम ?
 नहीं क्या मेरा बेटा राम ?”
 “और वे औरस भरत कुमार ?”
 कुदासी बोली कर फटकार
 कहा रानी ने पाकर खेद—
 “भला दोनों में है क्या भेद ?
 “भेद ?” दासी ने कहा सतर्क
 “सबेरे दिखला देगा अर्क
 राजमाता होगी जब एक
 दूसरी देखेंगी अभिषेक ?”

लक्ष्मण का वार्तालाप स्वभावानुसार उग्र है, राम का गंभीर है। पहला कैकेयी पर भी गिगड़ उठता है और पिता दशरथ को भी नहीं छोड़ता—

“वने इस दस्युजा के दास हैं जो—”

तो राम उसे सँभालते हैं—

“रहो, सौमित्रि ! तुम क्या कह रहे हो ?
 सँभालो बेग देखो यह रहे हो !”

कहीं तो एक पंक्ति में प्रश्न, दूसरी में उत्तर, तीसरी में प्रत्युत्तर का यह क्रम दस दस, बारह बारह पक्तियों तक अविराम चलता गया है। राहुल-पशोघरा का यह वार्तालाप दस पक्तियों में है—

“अब तात कब आएँगे ?”

“धीरज धर बेटा अवश्य हम उन्हें एक दिन पाएँगे
मुझे भले ही भूल जाँय वे तुझे क्यों न अपनाएँगे ?
कोई पिता न लाया होगा, वह पदार्थ वे लाएंगे !”

“माँ तब पिता पुत्र हम दोनों संग संग फिर जाएँगे
देना तू पाथेय प्रेम से विचर विचर कर खाएँगे
पर अपने दूने सूने दिन तुझको कैसे भायेंगे ?

“हा राहुल ! क्या वैसे दिन भी इस धरती पर धाएँगे
देखूँगी बेटा मैं, जो भी भाग्य मुझे दिखलाएँगे
तो भी तेरे सुख के ऊपर मेरे दुःख न छाएँगे ।”

जयसिंह-जगदेव का यह वार्तालाप पन्द्रह पक्तियों से भी अधिक है—

“सावधान !” बोला जगदेव घुस घर में—

भार है सती के पर्यवेक्षण का मुझको ।

“किसके नियुक्त तुम ?”

“जेठा जयसिंह से ।”

“मैं वह नहीं हूँ ?”

तुम कोई व्यभिचारी हो

कामी क्रूर कापुरुष !”

“सिद्धराज क्या हुआ ?”

“मर गया हाय ! तुम पापी प्रेत उसके !”

ओठ काटे राजा ने—“अभी मैं बतलाता हूँ
मृत हूँ या जीवित हूँ, प्रेत हूँ या सत्य हूँ !...”

साकेत में चित्रकूट के प्रबंग पर जाबिल मुनि और राम का वार्तालाप ३४

पक्षियों में फैला हुआ है और कहीं भी शिथिल नहीं, एक शब्द भी व्यर्थ भरती का नहीं।

कलात्मकता

लार्क्षणक पद्धति, प्रतीकात्मकता, प्रसंग विधान, भावों के पूर्व उपयुक्त पीठिका देने चलना, ध्वनि तथा शब्द या वाक्य भी आवृत्ति द्वारा प्रभावपूर्णता शैली की कलात्मक विशेषता के अंतर्गत है। कहीं पूर्व सकेत के रूप में कोई बात कह दी गई है जिसका यही परिणाम आगे चल कर हो गया है! पात्रों को भविष्य में होने वाली घटना का छात्रामास पहले ही मिल जाता है जिसे अंग्रेजी में कहते हैं *Coming events cast their shadows before.*”

१—ध्वनि:—(१) “मेरा राम न बन जात्रे

यहीं कहीं रहने पावे !”

(२) “कह विहग कहाँ हैं आज आचार्य तेरे ?

सचमुच मृगया म तो अहेरी नस बे

यह हत हरिणी छोड़ यों ही गए बे !”

अनुभवी शिकारी हाथ आया हुआ पशु छोड़ कर क्यों जायगा ? किंतु लक्ष्मण अभी इस विद्या में कच्चे हैं, नए व्यक्ति हैं जिन्हें इस का अनुभव नहीं है ! पहले में कौशल्या का मातृत्व, स्नेह व्यंजित है।

(३) “सखी व्यर्थ है व्यजनों की बढ़ाई

हटा चाल ! तू क्यों इसे आप लाई ?”

अर्थात् पति वियोग में उसे भोजन नहीं रुचता। उसने जब माँगा नहीं तो वह स्वयं क्यों लाई है ?

(४) “उड़ा ही दिया मंथरा ने सुआ—

अर्थात् उर्मिला के सब मुखों पर पानी फेर दिया—

(६) “किंतु करेगे कोक-शोक का तारे जो रखवाली”

मानो विधाता ने कोक को रात भर शोक सहने का दण्ड दिया और तारों को उस पर पहरा देने बैठा दिया।

२. चमत्कार—कही तो संवोधन पद्धति द्वारा उत्पन्न किया है “और गौरव गिरि उच्च उदार” या “वेदने तू भी भली बनी”—कही शब्दों का हेर फेर ही ब्योष्ट हुआ है:—

(१) “तू कामद हो कर आप अकाम”

(२) “तो मैं निरीश्वर हूँ ईश्वर क्षमा करे !”

(३) “है क्या अधिकार हम जैसे लुंज पुजों का बैठे मुंज राज के सुमंजु कीर्ति कुंज में !”

(४) “बोल मधु गन्ध ढोल इधर उधर त्यों बोल उठी बाला—‘आ दिवाली !’ कह आली से !”

३. प्रतीकात्मक पद्धति—जहाँ किसी भाव के व्यञ्जक संकेत लाए गए हैं। जैसे

(१) “ऊषा सी अहि थी जग में
संध्या सी क्या जाऊँ ?”

यहाँ ‘ऊषा’ आशा तथा हर्ष का प्रतीक है और ‘संध्या’ वेदना व उदासी का ।

(२) “नीलम के प्याले में बुदबुद देकर
उफन रही वह हाटना !”

यहाँ प्याला आकाश का प्रतीक है और हाला रात्रि का । प्रसाद ने भी ऐसा ही बिधान किया है:—

इन्द्र नील मणि महा चषक था !”

इसी प्रकार—

(३) “मिलूँ चाँदनी में तुरा क्या यही—”

में चाँदनी शीतलता की प्रतीक है अनेक उदाहरण लिए जा सकते हैं :—

(१) मेर बीणा गीली गीली
आज हो रही ढीली ढीली !”

(२) “लेता है निःश्वास समीरण
सुरभि धूल चरती है !”

(३) “सखि वसंत-से कहों गए वे
 मैं ऊष्मा-से यहाँ रही !”

४. मूर्ति करणाः—कही अमूर्त भाव को ही मूर्तिमान कर दिया है—

(१) “जाग उठे है मेरे सौ सौ भाव स्वयं हिल डोल !”

(२) “आ अभाव की एक आत्मजे और अदृष्टि जनी !”

प्रसाद ने भी चिता को “अभाव की चपल बालिका” कहा है ?

(३) “कैसी हिलती डुलती अभिलाषा है !”

(४) “मेरा रुदन मचल रहा कहता है कुछ गाँउ !”

(५) “हा मेरे कुंजां का रोदन उदास होकर सोया !”

५. अप्रस्तुत विधानः—(१) कही गुप्त जी ने प्रस्तुत की तुलना अप्रस्तुत से की है—

“विमाता बन गई आँधी भयावह

हुआ चंचल न तो भी श्याम घन वह !”

यहाँ कैकेयी की तुलना में आँधों का विधान हुआ है जो अप्रस्तुत है।

(२) कही प्रस्तुत के स्थान पर प्रतीक रख दिया है—

“उधार अह पर दीख पड़ा गृह दीपक मानो !”

यहाँ ‘गृह दीपक’ वस्तुतः सुपुत्र के लिए प्रयुक्त हुआ है।

(३) कही प्रस्तुत वर्णन के पीछे एक चित्र छिपा रहता है—

“अरुण संध्या को आगे ठेल

देखने को कुछ नूतन खेल

सजे विधू की बेंदी से भाल

यामिनी आ पहुँची तत्काल !”

यहाँ इस वर्णन के पीछे सखी को डेल कर आगे आती हुई नायिक का चित्र है।

(४) कहीं अप्रस्तुत के वर्णन द्वारा प्रस्तुत की व्यंजना करादी जाती है।”

“सखि नील नभस्सर में उतरा

यह हंस अहा ! तरता तरता

मय तारक मौक्तिक शेष नहीं

निकला जिनको चरता चरता

अपने हिम विंदु बचे तब भी

चलता उनको धरता धरता

गड़ जाय न कंटक भूतल के

कर डाल रहा डरता डरता !”

६. भाव को पृष्ठ भूमि :—अंग्रेजी की Pathetic Fallacy के उदाहरण भी मिलते हैं। प्रकृति भावों की पीठिका बनाती चलती है—

(१) “थी सनत्तर शशि निशा आस टपकाती

शशि ग्विसक गया निश्चित हँसी हंस बाकी...”

(२) “रीता दिन बीता रात हुई

ज्यों त्यों वह रात प्रभात हुई

फिर सूनी सूनी साँझ हुई

माना सब बेला वाँझ हुई !”

(३) शत्रुघ्न अयोध्या को युद्ध के लिए तैयार करेंगे। शत्रु बजाने के कुछ समय पहले नगरी की क्या स्थिति होगी—इसे समझाने के लिए भी कवि ने प्रकृति की पीठिका ही प्रस्तुत की है—

“नगर भी निस्तब्ध पड़ी क्षणदा छाया में...”

७. पुनरुक्ति :—इसका उपयोग गुप्त जी ने दो प्रकार से किया है। शब्द दुहरा कर या वाक्य दुहरा कर। ‘यशोधरा’ ‘साकेत’ में जहाँ गीतों का विधान है—या ‘भ्रंकार’ के गीतों में—एक वाक्य नियमित चरणों के उपरांत दुहराया गया है—

“मिलूँ क्या जाकर रीते हाथ !

प्रहरी ! क्या कहते हो ? मन में

क्या सोचेंगे नाब
 है ही क्या ? बस एक फूल यह
 तज्जुं इसे भी आज
 अच्छी बात इसी मिस मेरी
 रह जायगी लाज
 चला मैं, चला न कुछ भी साथ
 मिलूं क्या जाकर रीते हाथ !”
 ‘यशोधरा’ मे—

“ओ क्षण भंगुर भव, राम राम !”
 “अब क्या रखा है रोने मे”
 “मरण सुन्दर बन आया री”
 “आर्य पुत्र दे चुके परीक्षा, अब है मेरी बारी”
 आदि पंक्तियों इसी तरह दुहराई गई हैं।
 कहीं दो दो पंक्तियाँ दुहराई हैं जैसे ‘साकेत’ मे—
 “भरत से सुत पर भी संदेह
 बुलाया तक न उन्हें जो गेह !”

कैकेयी के मन में यह बात गढ़ गई और जितनी बार इसका स्मरण करती है उसका लोभ बढ़ता जाता है, पीड़ा घनीभूत होती जाती है जो इस पुनर्वाक्य का उद्देश्य है।

शब्दों की आवृत्ति कही तो (१) क्रिया की गति दिखाने के लिए हुई है—

“निकला जिनको चरता चरता।”

यहाँ चुगने की क्रिया समाप्त नहीं होती बल्कि सूर्य धीरे धीरे चुगता हुआ आगे बढ़ रहा है—इस क्रिया का बोध होता है।

(२) कही ध्वनि-प्रतिध्वनि की अभिव्यक्ति के लिए किया है—

“उछल उछल कर छल छल करके
 थल थल करके, कलकल करके...”

बहाँ जल कणों की विशेष ध्वनिबौ व्यक्त है।

(३) कहीं उत्साह, बढ़ने की प्रेरणा देने के लिए प्रयोग है—

“बढ़ जा, बढ़ जा, विटप निकट बल्ली !”

(४) कहीं समवेदना जाग्रत करने के लिए प्रयोग है—

“कूड़े से भी आगे

पहुँचा अपना अदृष्ट गिरते गिरते !”

(५) कहीं मन की अस्थिर दशा का बोध कराने के लिए—

“लाना लाना सखि तूली ।”

(६) कहीं भावों को गहराई के लिए, जिनसे प्रभाव बढ़ गया है—

“विकल ये मृग मोन मरे मरे

विफल ये दृग दीन भरे भरे !”

(७) कहीं हृदय के उमड़ते भावों को दवाने के लिए भी प्रयोग है—

“जताते कोप किस पर हो, कहो तुम ?

सुनो जो मैं कहूँ, चंचल न हो तुम !”

८. पूर्व संकेत :—जैसा दशरथ ने कैकेयी को समझाते समय कहा है—

“चली है, देख तू क्या आज करने !”

मरूंगा मैं, तथा पछताएगी तू

यही फल अंत मे बस पायगी तू !”

यशोधरा ने भी पूर्व संकल्प किया है—

आलो ! वही बात हुई, भय जिसका था मुझ

मानती हूँ उनको गहन-वन-गामी मैं !”

वृत्तियाँ और गुण

रस के अनुकूल कुछ बंधे हुए वर्णों का व्यवहार करने को वृत्ति कहते हैं आचार्यों ने इन्हे तीन भागों में बांटा है—उप-नागरिका, पुरुषा और कोमला। गुप्त जी की रचनाओं में इनका व्यवहार भी है :—

१. उपनागरिका वृत्ति:—इसमें ट वर्ग को छोड़ कर शेष मधुर व सानुनासिक वर्णों का प्रयोजन होता है :—

“मुझको बहुत उन्होंने माना
फिर भी क्या पूरा पहचाना ?
मैंने मुख्य उसी को जाना
जो वे मन में लाते
सखि, वे मुझ से कह कर जाते !”

२. परुषावृत्ति:—इसमें ट, ठ, ड, ढ आदि वर्ण, लंबे समास और प्रायः संयुक्त शब्दों का व्यवहार होता है :—

“अर्जुन-कराप्रोत्साहित प्रत्यक्ष कृत्या-मूर्ति सी
करने लगी गाण्डीव-मौर्वी प्रलय काण्ड स्फूर्ति सी...
हय गज रथादिक थे जहाँ पाषाण खण्ड बड़े बड़े
सिर-कच-चरण-कर आदि हो जल जीव जिसमें थे पड़े !”

३. कोमलावृत्ति:—इसमें अत्यंत कोमल अक्षर जैसे य, र, ल, व आदि, छोटे समास या बिना समास के शब्दों का व्यवहार होता है :—

“सखे तुम जाओ हंस कर भूल
रहूँ मैं सुध करके रोती
तुम्हारे हँसने में है फूल,
हमारे रोने में मोती !” या—

“बोली सुलक्षण नाम सखी—
है धीरज का ही काम सखी !
विधि भी न रहेगा वाम सखी
फिर आवेंगे भी राम सखी !”...

काव्य की शोभा बढ़ाने वाले धर्मों को गुण कहते हैं—“काव्य शोभायाः कवीरौ धर्मा गुणाः ।” भामह ने इनकी संख्या तीन मानी है—माधुर्य, श्रोज और प्रसाद । माधुर्य गुण शृंगार, करुणा व शांत रसों की पुष्ट करता है; श्रोज गुण

वीर, वीभत्स, रौद्र, भयानक रसों को पुष्ट करता है और प्रसाद गुण शब्दों के अर्थों से सम्बन्ध रखता है तथा सभी रसों में प्रयुक्त होता है। इस प्रकार गुणों का सम्बन्ध तत्त्वतः रसों से है। गुप्त जी चूँकि करुण रस प्रधान कवि है, उनकी कविताओं में माधुर्य गुण की विशेषता होनी चाहिए। प्रसाद तो सर्वत्र है और ओज भी मिल जाता है।

१. माधुर्यः— “काली काली कोयल बोली—
होली, होली, होली !

हँस कर लाल लाल हाठों पर हगियाली हिल डोली
फूटा यौवन, फाड़ प्रकृति की पीली पीली चोली...
अलस कमलिनी ने कलख सुन उन्मद अँखियाँ खोलीं
मल दी ऊपा ने अवर में दिन के मुख पर राला !...”

२. ओजः— “मुखं बाल रवि सम लाल होकर ज्वाल सा बोधित हुआ
प्रलयार्थ उनके मिस वहाँ क्या काल ही क्रोधित हुआ ?

× × ×
तब निकल कर नासा पुटों से व्यक्त करके रांघ त्यों
करने लगा निःश्वास उनका भूरि भीषण घोष या—
× × ×

दुद्धर्ष जलते से हुए उत्ताप के उत्कर्ष से
कहने लगे तब वे अरिदम, वचन व्यक्त अमर्ष से !”

३. प्रसादः— “भूल इस भव में मनुष्य से ही होती है,

अंत में सुधारता है उसको मनुष्य ही !
किंतु वह चूक हाय ! जिसके सुधार का
रहता उपाय नहीं, हूक बन जाती है
और जन जीवन बिगड़ जैसे जाता है !”

ऐसे अनेक उदाहरण दिए जा सकते हैं।

अलंकार विधान

अलंकार वस्तुतः उक्ति का चमत्कार है, काव्य की शोभा बढ़ाता है। वामन उसे गुणों का उत्कर्ष वर्धक मानता है—“तदतिशय हेतु वस्तु लकारः !” संस्कृत साहित्य शास्त्रियों ने तो इसे काव्य की आत्मा तक घोषित किया है लेकिन है यह साधन मात्र ही। यदि केवल अलंकार ही सामने रखा जाय तो उक्ति काव्य कैसे रह सकती है ? यदि कुछ भाव है तो उसे सजा सँवार कर, कला का पुट देकर कहा जाय तो सौंदर्य बढ़ जाता है, इतना महत्व ही अलंकार का मनना चाहिए। जैसे कोई सहज भाव को भी अलंकार मान बैठे तब तो कुछ कहा नहीं जा सकता।

गुप्त जी ने अलंकारों द्वारा साधन का उपयोग लिया है, उन्हें स्वतः साध्य नहीं बनाया है। कविता के सहज प्रवाह में जहाँ आ गए हैं—उन्होंने रख दिए हैं। बलपूर्वक जगह बनाते हुए विधान नहीं किया। इसलिए मुख्य मुख्य अलंकार ही उनमें मिलेंगे उपमा, रूपक, श्लेष, यमक, उत्पत्ति, संदेह दृष्टांत अभ्यान्तरन्यास, विरोधाभास, उल्लेख, भ्रन, आतिशयोक्ति, निदर्शना, आदि। कुछ अवश्य ऐसे स्थल हैं जहाँ अलंकार प्रियता भाव की सहज अनुभूति में बाधक होने लगते हैं। दो स्थल लीजिए—

१. वे ‘पंचवटी’ को नाटक का रूप देना चाहते हैं—

“नाटक के इस नए दृश्य के
दर्शक थे द्विज लोग वहाँ
करते थे शाखा सनस्थ व
समधुप रस का भोग वहाँ !
भट अभिनयारंभ करने को
कालाहल भी करते थे
पंचवटी की रंग भूमि को
प्रिय भावों से भरते थे !”

२. उर्मिला का विरह वर्णन है :—

“उस रुदन्ती विरहिणी के रुदन-रस के लेप से
और पाकर ताप उसके प्रिय विरह-विक्षेप से
वर्ण वर्ण सदैव जिनके हों विभूषण वर्ण के
क्यों न बनते कविजनों के ताम्र पत्र सुवर्ण के !”

लेकिन ऐसे उदाहरण अपवाद स्वरूप हैं। अधिकतर अलंकारों ने भावों की
गोभा वृद्धि की है।

गुप्त जी द्वारा प्रयुक्त सभी अलंकारों को ६ भागों में रखा जा सकता है।

१. साधर्म्य मूलकः—उपमा, रूपक, उत्प्रेक्षा आदि।

इन अलंकारों के प्रयोग से गुप्त जी अपना व्यक्तव्य स्पष्ट करते हुए पाठक
की मनोवृत्तियों को अन्वित करते हैं।

(१) उपमा— “मुख बाल रवि सम लाल हो कर
ज्वाल सा बोधित हुआ !”

“अब सूर्य के सम पार्थ को भी
अस्त होते देख लो !”

× × ×

निरख सखी ये खजन आए
फेरे उन मेरे रंजन ने नयन इधर मन भाए !”

(२) रूपक— “ऐसे रुधिर-नद में बहाँ
रथ-रूप नौका पर चढ़े
श्रीकृष्ण-नाविक युक्त अर्जुन
पार पान का बड़े !”

× × ×

“श्रीकृष्ण रूपी वायु से
पेरित धनंजय ने बहाँ

कौरव-चमू-वन कर दिया

तत्काल नष्ट जहाँ तहाँ !”

(३) उत्प्रेक्षा—

“मेरी दुर्बलता क्या दिखा रही तू

अरी मुझे दर्पण में

देख, निरख मुँह मेरा वह तो

धुँधला हुआ स्वयं ही क्षण में !”

×

×

×

“स्वर्ण के कलश पर अस्तंगत भानु का

अरुण प्रकाश पड़ झलक रहा है यों

छलक रहा हो भरा भीतर का वर्ण व्यों !

×

×

×

“इसके अनन्तर पार्थ युत

कैलाश पर हरि आ गए

मानो सुयश के पुंज पर

युग कंज छवि से छा गए !”

२. अतिशयमूलक :—अतिशयोक्ति आदि । ये अलंकार हमारे मन में स्थित ओज की अभिव्यक्ति कराते हैं । उनमें कुछ न कुछ संगति होती है । वे पाठक के मन का विस्तार करके संगति द्वारा वृत्तियों की अन्वित में सहायक होते हैं ।

“कौंप उठा आकाश, चौंक कर जगती जागी

झिपी चित्तिज में कहीं, सभय निद्रा उठ भागी...”

×

+

×

“पूछी थी सुकाल दशा मैंने आज देवर से-

कसी हुई उपज कपास, ईख, धान की ?

बोले-इस बार देवि देखने में भूमि पर

कुछनी रहा सो हुई इन्द्र भगवान की

पूछा यही मैंने एक ग्राम में तो कृपकों ने
 अन्न, गुड़, गोरस की वृद्धि ही बखान की
 किंतु स्वाद कैसा है न जाने इस वर्ष हाग
 यह कह रोई एक अचला किसान थी !”

३. वैषम्य मूलक :—विरोधाभास, व्यतिरेक, विभासना, असंगति आदि । ये अलंकार शब्द गत या अर्थ गत वैषम्य द्वारा पहले तो आवयान्वित करते हैं फिर अनेकता में एकता की भावना कराते हुए हमारी वृत्तियों को अन्वित करते हैं !

(१) विरोधाभास—

“राजा योगी जय जनक वे पुण्य देही, विदेही !”

×

×

×

“ऐसा हृद एक सुना मैंने आपके यहाँ
 जो भी गिरे उसमें सलोना बन जाता है !
 अद्भुत है !” राजा मुसकाया और बोला—“हाँ”
 “मधुर रहेगी तू वहाँ भी !” कहा भट ने !”

४. औचित्य मूलक :—सम, एकावली आदि । यहाँ मूलतः एक ही संगति होती है जो वृत्तियों को सीधे ही समन्वित कर देती है ।

५. वक्तता मूलक :—समासोक्ति, अन्योक्ति आदि । ये अलंकार पहले जिज्ञासा उत्पन्न करते हैं—वृत्ति को रोक कर तीव्र बना देते हैं—जब वास्तविक अर्थ ज्ञात होता है तो वृत्तियों को अन्वित करने में सहायक होते हैं ।

“अरी, सुरभि जा लौट जा, अपने अंग सहेज
 तू है फूलों में पली, यह कौटों की सेज !”

६. चमत्कार मूलक :—श्लेष, यमक आदि । ये बुद्धि पक्ष से सम्बन्ध रखते हैं । ये कुतूहल उत्पन्न कर वृत्तियों को अधिक जागरूक बनाते हैं । गुप्तजी श्लेष बल से सीता के ओजों का वर्णन “भाग सुभाग पक्ष में थे” कह कर बनाए हैं ।

“किंतु चिंता छोड़ो, किसी अन्य का विचार करूँ
तो हूँ जार पीछे प्रिय ! पहले हूँ कामी मैं !”

x

x

x

“पहले आँखों में थे मानस में कूद मग्न प्रिय अब थे !”
यमक का उदाहरण है—

“अंगराग पुरांगनाओं के धुले
रंग देकर पौर में जो है धुले !”

बीप्सालकार—

“विकल जीवन व्यर्थ बहा बहा
सरस दो पद भी न हुए हहा !”

कहीं श्लेष द्वारा वक्रोक्ति कराई है—

“देवर ! मेरी सरस्वती अब है कहाँ ?
संगम शोभा निरख निमग्न हुई यहाँ !”

अनुप्रासलकार का उपयोग तो स्थान स्थान पर है । उसके भेदोपभेद—
वृत्त्यानुप्रास, छेकानुप्रास में पर्याप्त मिल जाते हैं ।

“लट पट चरण, चाल अटपट सी मन भाई है मेरे
दहता भी है, बहता भी है, यह जी सब सहता है
काल-करों ने धर अंबर में सारा सार निचोड़ा !”

x

x

+

“अवश अबला तुम ? सकल बल बोरता
विश्व की गभीरता, ध्रुव धोरता !”

x

x

x

“मौक न भंभा के भोंके में
भुक कर खुले भरोके से !”

‘हिन्दू’, ‘भारत भारती’ चूँकि उपदेश प्रधान रचनाएँ हैं उनमें प्रायः
इष्टांत, ‘निदर्शना’, ‘आर्थान्तरन्यास’ की प्रधानता है ।

“संसार में किसका समय है एक सा रहता सदा
 • है निशि दिवा सी घूमती सर्वत्र विपदा संपदा !
 जो आज एक अनाथ है नर नाथ होता कल वही
 जो आज उत्सव मग्न है कल शोक से रोता वही !”

प्राचीन कवियों के उपमेय तथा उपमान प्रायः मूर्त रहते थे, उनमें स्थिरता भी रहती थी—आँख की खंजन से तुलना कर दी, नाक की तोते से आदि । गुप्तजी के अलंकार विधान में एक और तो इस रूढ़ि-परंपरा का पालन है, दूसरी और नवीनता भी है ।

“उर्मिला ने कीर सम्मुख दृष्टि की”

७. नवीनताएँ :—या बहाँ दो खंजनों की सृष्टि की—“प्राचीन पद्धति पर है तो—(१) “बुरे स्वप्न में वीर आ गया उद्बोधन सा” में नवीनता है । वीर उपमेय का उपमान ‘उद्बोधन’ है अर्थात् मूर्त की तुलना में अमूर्त का विधान किया है ।

‘लौट गया दूत एक तीव्र वृत्त भोंके सा ।’

इसमें भी दूत की तुलना भोंके से की गई है ।

(२) अलंकरण को एक नवीन पद्धति है किसी भाव की व्यंजना कराने के लिए एक पूर्ण चित्र या दृश्य का विधान करना । मैथ्यू आर्नल्ड ने (Sohrab And Rustam) खण्ड काव्य में ऐसा प्रयोग अनेक स्थानों पर किया है । गुप्त जी की कविता में भी उदाहरण मिलते हैं :—

“हरि के हृदय हर, सोमनाथ भेटने
 जा रही थी, किंतु मिले बहुजन मार्ग में
 दर्शन बिना ही निरे आ रहे थे दुःखी जाँ ।
 जैसे किसी वृक्ष पर पक्षी दूर दूर से
 उड़कर आश्रयार्थ आवें, किंतु देख के
 लिपटा विशाल एक अजगर उससे
 भागें सब भीत होके... ..!”यः—

“सत्वर ससभ्रम बढ़ा यों बीर माता की
 और, उत्तरीय फहराता हुआ अपना
 जैसे लता क्रोड़ पर फैला कर पत्तों को
 टूटे कलकंठ ! माँ ने उस नत होते को
 बल से समेट भट छाती से लगा लिया !”

पहले उदाहरण में निराश यात्रियों का खेद दूर से उड़कर आते हुए पक्षियों के दृश्य से अभिव्यक्ति किया गया है। उनके दूर दूर से आने का भ्रम, कर न चुका सकने का खेद, निराश होकर लौट जाना—सब एक दृश्य से मूर्त हो गए हैं।

दूसरे उदाहरण का सौंदर्य है जैसे पंख फैला कर बन्वा ऊपर घोंसले पर आ बैठे और उसकी माता अपने विशाल पंखों से स्नेहवश उसे टक ले—उसी प्रकार जयसिंह ने आरु माँ को प्रणाम किया और माँ ने तुरत छाती से लगा लिया इसमें वात्सल्य भी व्यंजित हो गया है।

(३) संशोधन प्रणाली की नवीनता है।

“भूल पड़ी तू किरण कहाँ ?”

“ओ कोयल यह कौन झूक !”

आदि। इनसे भावों की गहराई, तादात्म्य की भावना-व्यक्त होती है।

(४) अंग्रेजी में कुछ अलंकार हैं जिनके उदाहरण गुप्त जी की कविता में मिलते हैं।

मानवीकरण (Personification) का उदाहरण है—

“कुछ कहने के लिए लता के

अरुण अधर ये फड़क रहे हैं !”

जैसे लता कोई व्यक्ति हो जिसके हाँठ फड़क रहे हों। विशेषण विपर्यय (Transferred Epithet) का उदाहरण है—

“कैसी हिलती झुलती अभिलाषा है !” या

“शक्ति जिसक गया निश्चित हंसी हंस बाँकी !”

वस्तुतः हिलती कली है और निश्चित शशि है। एक का विशेषण दूसरे के जोड़ दिया गया है।

शब्द हवनन (Onomato poeia) के तो बहुत उदाहरण मिलते हैं। 'पंचवटी' से 'सिद्धराज' तक इसकी प्रवृत्ति बढ़ती गई है।

“घूम घूम कर भूम भूम कर,
थल थल का रस पान ले !”

× × ×

“टूट पड़ा वज्र सम गर्जना के साथ ही
वर्जना थी अपनों की, शत्रुओं की वर्जना...।
भग्न हुए खड्ग द्वय खन् खन् करके
फेंक मूँठ, मार एक दूसरे को मूँठ सी
गिर पड़े दोनों भट माया फट जाने से...”

+ × ×

“भोंके झिलमिल झेल रहे थे दीप गगन के
खिल खिल, झिलमिल खेल रहे थे दीप गगन के !”

Pathetic Fallacy का उदाहरण मैं पहले दे चुका हूँ।

इन उद्धरणों से स्पष्ट हो जाता है कि गुप्तजी ने अलंकार विधान में प्राचीन तथा नवीन दोनों पद्धतियों की विशेषताओं को लाने की चेष्टा की है। यह तथ्य ध्यान में रखने योग्य है।

छन्द विधान

गुप्तजी ने मात्रिक और वर्णिक दोनों प्रकार के छंदों का प्रयोग किया है। दोहा, सोरठा, चत्वारि, सबैया, आर्या, शिखरिणी, मालिनी, द्रुत विलंबित, शार्दूल विक्रीडित, पादा कुलक, सुमेरु, शृंगार, पोयूष वर्ष, गीतिका, हरि-गीतिका आदि। इनमें गतिभंग, यति भंग प्रायः कम ही मिलते हैं। नए प्रयोग भी किये हैं, कहीं दो छन्दों को मिलाया भी है।

१. हरिगीतिका—छन्द का सर्वप्रिय छंद रहा। ‘जयत्रय-वच’, ‘अर

भारती' में इसी का प्रयोग हुआ है। परवर्ती रचनाओं में बदल दिए हैं। अतुकांत प्रयोग भी मिलते हैं। 'हरि गीतिका' मात्रिक छन्द है जिसमें २८ मात्राएँ होती हैं। १६, १२ पर यति होता है अतः मे लघु गुरु (१५) होता है—

“तत्काल ही दोनों दलों में, घोर रण होने लगा

॥ ५१ ॥ ५ ५५ १५ ५, ५१ ॥ ५५ १५

प्रत्येक पल में भूमि पर वर, वीर-गण सोने लगा

॥ ५१ ॥ ५ ५१ ॥ ॥, ५१ ॥ ५५ १५

रोने लगीं मानो दिशाएँ, पूर्ण ही रण-घोष से

५५ १५ ५५ १५५, ५१ ५ ॥ ५१ ५

करने लगे आघात सम्मुख, शूर सैनिक रोष से !

॥ ५५ १५ ५५१ १५१ ५१ ५॥ ५१ ५

नियमानुसार यह छंद सही है केवल दूसरी पंक्ति में यति-भंग दोष है। अगर १६ पर विराम लगाया जाय तो 'वर' शब्द पहले आना चाहिए जब कि उसका सम्बन्ध वीर-गण से है।

दूसरा उदाहरण 'भारत भारती' का है—

“हम कौन थे क्या हो गए हैं, और क्या होंगे अभी

आओ विचारें आज मिल कर, ये समस्याएं सभी।

यद्यपि हमें इतिहास अपना प्राप्त पूरा है नहीं

हम कौन थे इस ज्ञान को, फिर भी अधूरा है नहीं !”

यह छंद भी नियमानुसार २६ मात्राओं का है, केवल चौथे चरण में यति १६, १२ पर न होकर १४, १८ पर है।

२. 'गीतिका'—इस छन्द का प्रयोग 'रग में रंग' में है—

“एक कर नीचा नवाए, एक ऊपर को किए

५१ ॥ ५५ १५५, ५१ ५॥ ५ १५

एक कर सम्मुख बढ़ाए, एक भीषा पर दिए

५१ ॥ ५॥ १५५, ५१ ५५ ॥ १५

चौभुजी वह मूर्ति मानो, कह रही थी यों अभी

SA S II SI SS , II IS S S IS

हो खड़े ऊँचे चढ़ो, आगे बढ़ो देखो सभी !”

S IS SS IS SS IS SS IS

नियमानुसार इस छंद में २६ मात्राएँ हैं, अंत में लघु गुरु (IS) भी है ।
१४ और १२ पर यति दोनों चाहिए जो तीन चरणों तक तो ठीक है, चौथे में
गलत हो गई है ।

३. दोहा :—

“जय जय स्वर्गांगार सम, भारत कारांगार

पुरुष पुरातन का जहाँ, हुआ नया अवतार ।”

इसके पहले और तीसरे चरणों में १३, १३ मात्राएँ हैं तथा दूसरे-चौथे
चरणों में ११ ११ । अंत में गुरु लघु ठीक (SI) है ।

४. वरवै :—

“अर्बाध शिला का उर पर, था गुरु भार

तिल तिल काट रही थी, दग जल धार !”

इसके पहले और तीसरे चरणों में १२ मात्राएँ हैं और दूसरे चौथे में ७
कुल मात्राएँ १९ हैं जो नियमानुसार ठीक हैं ।

५. छप्पय :—

“नीलांबर परिधान, हरित पट पर सुंदर है

सूर्य चन्द्र युग मुकुट मेखला रत्नाकर है

नादियों प्रेम-प्रवाह फूल तारे मण्डन हैं

बन्दी जन खग वृंद, शेष फन सिंहासन है ।

करते अभिषेक पयोद हैं, वलिहारी इस वेष की

हे मातृ भूमि ! तू सत्य ही, सगुण मूर्ति सर्वेश की !”

इसके आदि में २४-२४ मात्राओं के चार पद रोला के हैं । अंतिम दो
पद २८-२८ मात्राओं के उल्लाला छंद के हैं, जो नियमानुसार हैं ।

इसी प्रकार अन्य छंदों के उदाहरण भी दिये जा सकते हैं। निम्न पद्य में 'इन्द्रवंशा' और 'वशेस्थ विलम्' को मिला दिया है—

“वियोगिनी वाम महा मलीन
होती दिशाएँ सब दीप्ति हीन
अंभोज सारे विन पत्र चीण
भुजंग होते विन वीर्य दीन !”

अतुकात छंद का प्रयोग 'मेषनाथ वध' के अनुवाद में हुआ है और 'यशोधरा', 'सिद्धराज' में भी। 'सिद्धराज' तो बहुत ही उत्कृष्ट अतुकांत खण्ड काव्य है। भाषा इसमें चरम उत्कर्ष को प्राप्त हो गई है। वर्णन चाहे शृंगार का हो, कष्ट का हो, या युद्ध का हो गुप्त जी को अपूर्व सफलता मिली है।

संस्कृत वृत्तों का प्रयोग 'पत्रावली' में और 'साकेत' के कुछ स्थलों में हुआ है। वैसे समग्र रूप से कम प्रयोग है। कारण शायद यह भी रहा हो जनता तुकात कविता में अधिक रस मग्न होती है और गुप्त जी ने तो अपने पाठकों को सामने से दृष्टा ही नहीं—जो कुछ भी लिखा है उन्हीं के लिए लिखा है। तब 'छंद' बेचारा इस मनोवृत्ति के अनुकूल क्यों न चलता !

तो हमने देखा शैली के अग्र-प्रत्यंग का गुप्त जी ने सूक्ष्म ध्यान रखा है इस कारण काव्य का कला पक्ष भी पुष्ट है। सफल व युग रचनाएँ वही होती हैं जिनके भाव पक्ष, कला पक्ष दोनों ही समन्वित होकर साधारण स्तर से उठ गए हों। गुप्त जी ने भावामिव्यक्ति में भाषा को ऐसा चाहा है घुमा लिया है—इस कारण उनकी प्रौढ़ रचनाएँ—'साकेत', 'यशोधरा', 'सिद्धराज' आदि काव्य के भाव पक्ष व कला पक्ष दोनों ही दृष्टियों से उत्कृष्ट हैं। शैली पर इतना व्यापक अधिकार किसी वर्तमान हिन्दी कवि का नहीं मिलता।

अध्याय १२

खड़ी बोली के निर्माण में योगदान?

स्थिति—

गुप्तजी के साहित्य ने खड़ी बोली का स्वरूप स्थिर करने में बड़ा योग दिया है। वस्तुतः भाषा, साहित्य रचना द्वारा ही समृद्ध होती है। उन्होंने जिस समय लिखना आरम्भ किया, खड़ी बोली का निश्चित स्वरूप ही नहीं था। गद्य के क्षेत्र में तो भारतेन्दु उसे रीति काल की सँकरी नालियों से निकाल लाए लेकिन पद्य क्षेत्र में उन्होंने ब्रजभाषा का ही प्रयोग किया। जब गद्य में खड़ी बोली सफल हो सकती है तो पद्य में भी चमक सकती है! गुप्तजी इसी अखण्ड विश्वास पर बढ चले और युगान्तरकारी सबसे महत्वपूर्ण कार्य उन्होंने यही किया कि ब्रजभाषा के स्थान पर खड़ी बोली को अधिष्ठित कर दिया। उसे सँवार कर, शब्दों की कंकशता “खड़ापन” घिस घिस कर मधुर एवं कोमल बनाने की निरन्तर साधना में लगे रहे।

खड़ी बोली साहित्य के क्षेत्र में तुलाने तो लगी थी, किंतु बोल फूट न थे। कभी ‘पिया’ बोल उठती थी तो सप्रयत्न ‘प्रिय’ कहने में भी लगी रहती थी। शुद्ध शृंगार अभी निखरा न था, रूप रेखा अस्पष्ट थी। अंग प्रत्यंग निश्चित आकार में ढल तो रहे थे किंतु अभी वय सध के पूर्व की अवस्था थी। उधर काव्य रसिक इसकी ज्येष्ठा ब्रजभाषा के प्रौढ़ हो जाने पर भी उसी ओर झुके रहते थे। ‘हरिऔध’, ‘प्रसाद’ तक ने आरम्भ में ब्रजभाषा में ही रचना की थी। लेखक रसमय उक्ति-कथन में उसी का सहारा लेते थे और चलते-चलाते बेचारी खड़ी बोली पर भी दृष्टिपात कर लेते थे। उनका यह विश्वास सा था कि “माष री माय, खँ करी करी में मोरे पायन में काकरी गरति है”—की सी

मधुरता कोमलता, कर्ण प्रियता अन्यत्र मिल ही नहीं सकती। एक तो इस विश्वास पर अविश्वास करने का आधार देना था।

खड़ी बोली जो उभर रही थी, विभिन्न शब्द भण्डारो के प्रभाव से कभी संस्कृत की ओर ढलक पड़ती थी, कभी उर्दू की ओर। राजा लक्ष्मणसिंह ने साफ कह दिया था हिन्दी उर्दू दो न्यारी न्यारी बोलिया हैं। उसका शब्द भंडार संस्कृत से ही सम्पन्न होना चाहिए। 'सितारे हिन्द' उसे "आगफहम" भाषा बनाने में लगे हुए थे—अरबी-फारसी के शब्द ठू से जा रहे थे। भारतेन्दु ने मध्यम मार्ग का अनुसरण किया दोनों प्रकार की कविताएँ लिख दी। उनकी खड़ी बोली भी पद्य क्षेत्र में लड़खड़ाती ही रही—

“श्री राधा माधव युगल प्रेम रस का अपने को मस्त बना
पी प्रेम पियाला भर भर कर कुछ इसमें का भी देख मजा
इतवार न हो तो देख न ले क्या हरिश्चन्द्र का हाल हुआ”
या फिर—

“चूरन साहब लोग जो खाता
सारा हिन्द हजम कर जाता!”

गद्य के क्षेत्र में भारतेन्दु ने पथ निर्देश अवश्य किया, किन्तु कविता के क्षेत्र में उनकी बीणा मौन ही रही। शायद वह किसी अन्य साधक की प्रतीक्षा कर रही थी।

भारतेन्दु युग के किसी दूसरे कवि ने भी खड़ी बोली की विशेष सेवा नहीं की। प्रतापनारायण मिश्र तो इसी आशा में बैठे रहे—

“यह ब्यारि तबै बदलेगा कछु

पपिड़ा जब पूछिहै पोव कहाँ”

ठाकुर जगमोहन सिद्ध ने ब्रजभाषा का ही शृंगार किया—

“अब यों उर आवत है मजनी

मिलि जाऊँ गर लगिकै छतियाँ

मन की करि भौंति अनेकन ओ

मिलि कीजिय री रस की बढियाँ

हम हारि चुरी करि कोटि उपाय
लिखी बहु नेह भरी पनियाँ
जग मोहन मोहिनी मूरति के बिना,
कैसे सहें दुख की रतियाँ !

वह समय ऐसा था जब 'कर', 'मिल', 'मोहनी' आदि शब्दों को भी माधुर्य के लिए 'करि', 'मिलि', 'मोहिनी' कर लिया जाता था। तब कविगण 'सजनी' के स्थान पर 'सखी', 'छतियाँ' के स्थान पर 'छाती', 'मूरति' के स्थान पर 'मूर्ति' आदि शब्दों का प्रयोग कैसे कर सकते थे ?

या वे घड़क अरबी, फारसी शब्द हो नहीं आते थे, छन्द भी विदेशी आता था—

“दिल मेरा ले गया दगा करके
बेवफा हो गया वफा करके
हिअ की शव घटा ही दी हमने
दास्ताँ जुल्फ की बढ़ा कर के
शुअलारू कह तो क्या मिला तुझको
दिलजलों को जला जला कर के !”

आश्चर्य होता है यह खड़ी बोली ही है !

फिर भी कुछ लोगों के प्रयत्न से खड़ी बोली चलना सीखने लगी थी, लड़-खड़ा कर उठने-बैठने का प्रयत्न भी कर रही थी। बदरीनारायण चौधरी, श्रीधर पाठक, अबिकादत्त व्याम, श्री नाथूराम शकर शर्मा, आदि कवियों की रचनाओं में हिन्दी खड़ी बोली की विभिन्न प्रवृत्तियों के दर्शन होते हैं। ब्रजभाषा का आँचल भी कभी पकड़ लेती थी।

“अब बची खुची खेतो हू खिसकन लागो
चारहुँ दिसि लागी है महंगी की आगी
सुनिए चिलौय सब परजा भई भिखारी
भागो भागो अब काल पड़ा है भारी !”

महावीर प्रसाद द्विवेदी की कविता में खड़ी बोली अव्यस्थित तो मिल नहीं सकती। जैसे परिवार का बड़ा बूढ़ा बच्चा पर अंकुश रख कर उन्हें निश्चित मार्ग पर चलाना चाहता है और बढ़कने पर कभी कान भी उमैठ देता है, वैसा ही व्यवहार इन्होंने खड़ी बोली के साथ किया है। व्याकरण की शिथिलता, नियमों को छूट तो प्रायः नहीं दी है लेकिन शुष्कता, नीरसता पूर्ववत् है। उन पर संस्कृत वृत्तों का प्रभाव है और वस्तुतः द्विवेदी जी कवि थे भी नहीं।

“चारु चरित तेरे चतुरावन भक्ति युक्त सब गाते हैं
इस विशाल विश्व की महिमा, तुझसे ही बतलाते हैं।”

x

x

x

“भृकुटी कुटिल कटाक्ष पात से उसे सुन्दरी सुर वाला
बाँधे डाल रखे वैसे ही, पड़ा रहे वह चिरकाला !”

जब खड़ी बोली का रूप ही निश्चित नहीं हुआ था तब मधुरता, अभिव्यजना शक्ति, ध्वनन आदि का अवसर दूर ही रहता।

यह स्थिति थी गुप्त जी के काव्य रचना में प्रवृत्त होते समय ॥ उनकी देन यही है कि खड़ी बोली को केवल अपने पाँवों पर खड़ा होना ही नहीं सिखाया अपितु अग अग की गठन में चमत्कार उत्पन्न कर दिया। विभिन्न भावों की अभिव्यक्ति में उसे समन्त, समर्थ माध्यम बना दिया। मैं मानता हूँ इतना काम उन्होंने अकेले नहीं किया; फिर भी खड़ी बोली के उन्नायकों में वे पहले कवि हैं—इस तथ्य को स्वीकार करने में किसी को आपत्ति नहीं होगी। शक्तिप्रिय द्विवेदी ने ठीक ही लिखा—“किसी माला में प्रथम मणि, उपवन में प्रथम पुष्प, गगन में प्रथम नक्षत्र का जो महत्व पूर्ण स्थान हो सकता है वह वर्तमान कविता में गुप्त जी का है। अतएव खड़ी बोली की वर्तमान कविता के प्रधान और प्रथम प्रतिनिधि कवि बाबू मैथिलीशरण गुप्त ही हैं !” †

दृष्टिकोणः—गुप्त जी ने महावीर प्रसाद द्विवेदी द्वारा संपादित ‘संस्कृत’ पत्रिका से लिखना आरंभ किया। विकास करती करती उनकी भाषा—“पर क्या

† ‘हमारे साहित्य निर्माता’—शा० प्रि० द्विवेदी।

न विषयोत्कृष्टता कर्तो विचारोत्कृष्टता” से आगे बढ़ कर—“सखि, वे मुझसे कह कर जाते—” तक पहुँच गईं। इस प्रौढ़ता व विकास का इतिहास भी उनकी रचनाओं से मिल जाता है।

भाषा के सम्बन्ध में गुप्त जी का अपना दृष्टिकोण यह है—“जो शब्द भिन्न भाषाओं के होने पर भी हमारी भाषा में मिल गए हैं वे हमारे ही हो गए हैं। परन्तु यह अवश्य कहा जायगा कि उनके सामने, उमी अर्थ के, अपने शब्दों को अशिष्ट समझना हमारे मन की नहीं तो कानों की गुलामी जरूर है। आजकल राजनीति की सभाओं में बहुधा एक बात देखी जाती है। वह हिंदी शब्दों का चुन-चुन कर बहिष्कार और उनके बदले उर्दू-फारसी के अलफाज का प्रचार। हिंदी के हित-चित्तों को सावधान हो जाना चाहिए। अपनी भाषा को छोड़कर हम अपने भावों की रक्षा नहीं कर सकते।” (इवर इंदी के राष्ट्र भाषा हो जाने के बाद इसके विपरीत संस्कृत तत्सम शब्दों का प्रयोग बढ़ रहा है। यह भी उतना ही हानि प्रद है।)

विदेशी शब्द प्रयोग के साथ ही प्रांतीय-ग्रामीण शब्दों के प्रयोग का भी प्रश्न उठता है कितने लिए जाँय ? कहीं तक लिए जाँय ? किस रूप में लिए जाँय ? गुप्त जी ने इस सम्बन्ध में भी अपना मत स्पष्ट किया है—“बोलचाल की भाषा की कविता का शब्द भंडार भरने में अपनी प्रांतिक भाषाओं से भी सहायता लेकर हमें उनसे सम्बन्ध रख बनाए रखना उचित जान पड़ता है। ब्रज, बुन्देल खण्डी, और अवधी की तो बात ही जाने दीजिए, उन्हें तो हम लोग अपने घरों और गाँवों में नित्य बोलते ही हैं, लेखक की राय में तो अन्य प्रांतीय भाषाओं से भी हमें शब्द “जोगाड़” करते हुए “सिहरने” के बदले “विभोर” ही होना चाहिए !.....

“हमारी प्रांतीय बोलियों में कभी कभी ऐसे अर्थ पूर्ण शब्द मिल जाते हैं, जिनके पर्याय हिन्दी में नहीं मिलते। जब हम अरबी, फारसी और अंगरेजी के शब्द निस्संकोच भाव से स्वीकार करते हैं तब आवश्यक होने पर अपनी प्रांतीय भाषाओं से उपयुक्त शब्द ग्रहण करने में हमें क्यों संकोच होना चाहिए ?”

यह बहुत स्वस्थ और संतुलित दृष्टिकोण है। हिन्दी के भाषा विज्ञानी भी

इसकी सत्यता स्वीकार करते हैं। अपनी रचनाओं में उन्होंने शुद्ध, सरल, सरस और मुहावरेदार भाषा का प्रयोग किया है। विशेषतः यह है कि अर्थ की अस्पष्टता कहीं भी नहीं। सुबोध और स्वाभाविक गति से चलती है। न तो शुद्ध संस्कृत-निष्ठ समासात् पदावली का व्यवहार है न तद्भव शब्दों का। उसका परिमार्जित रूप ही मिलेगा जो प्रभावोत्पादक एवं शक्तिशाली है।

१. आरंभिक रचनाओं में तत्सम शब्दावली की प्रधानता मिलती है !
जथद्रथ वध, 'भारत भारती' में समासात् पदावली का यथेष्ट प्रयोग है :—

“करता पयोर्दो को प्रभंजन
शीघ्र अस्तव्यस्त ज्यों
करने लगे तब ध्वस्त अर्जुन
शत्रु-सैन्य-समस्त त्यों।
बे रिपु शरों को काट कर
रण-भूमि यों भरने लगे
रण चंडिका-पूजन सरोजों
से यथा करने लगे !”

+ + +
“जगदीश और प्रफुल्ल सब विज्ञान-वेत्ता हैं कहाँ ?
राजेन्द्र लाल समान विद्वन्दत्त होते हैं यहाँ
प्राचीन विषयक ज्ञान में भण्डार कर से ज्ञात हैं
गणितज्ञ बापू देव, बाहस्पत्य सम विख्यात हैं !”
x x x

“भू पर यत्र तत्र सर्वत्र
किया तुम्हीं ने एकच्छयत्र
तप कर कर पाए जो तत्व
सुख के और शान्ति के सत्व !”

+

x

+

“दुस्तर क्या है उसे विश्व में प्राप्त जिसे प्रभु का प्रणिधान पार किया मकरालय में उसे एक गोष्पद सा मान ।”

२. अरबी, फारसी शब्दों का प्रायः बहिष्कार सा मालूम पड़ता है किंतु किसान’ में अदालती अरसर के अनुकूल वैसी ही भाषा भी है —

“जमीदार ने कहा कि-सुन लो कहते हैं हम साफ़
अब की बार फसल फिर बिगड़े या लगान हो माफ़ !
पर हम जिम्मेदार नहीं हैं, छोड़ेगे न छदाम
जो तुमको मंजूर न हो तो देखो अपना काम !
हुकम हुआ फिर मार बबूलन होगी फिर बेकार —
इन्दुल तलब नाम का रुक्का लिखा गया बाचार !”

३. सामान्यतः संस्कृत निष्ठ तथा तत्सम बहुल होने पर भी क्लिष्टता नहीं है—

“अम्ब, स्वप्न देखा है रात
लिप मेप-चावक गोदी में खिला रहे हैं तात !
उसकी प्रसू चाटती है पद कर, करके प्रणिपान
घेरे हैं कितने पशु पक्षी, कितना यात यात !”

४. और कभी उन्होंने ऐसे शब्द प्रयोग कर दिए हैं कि भास गद्य के निक ही नहीं बल्कि निरुद्देश्य जैसी मालूम पड़ने लगती है—

“बाहर से क्या जोड़ूँ जाड़ूँ ?
मैं अपना ही पल्ला भाड़ूँ
तब है जब वे दाँत उखाड़ूँ
रह भव सागर नक्र !”

× × ×
“बोले फिर वे कि कहाँ छोड़ा
ले चलो मुझे कि जहाँ छोड़ा
मुझको भी वहीं छोड़ आओ
वह रामचन्द्र मुख दिखलाओ !”
× × ×

“छुरे काटते हैं जो नार
होते हैं बहुधा सविकार

५. लेकिन ऐसे प्रयोग हैं कम, कविता पद्य मात्र या तुकचंदी ही न रह कर भाव प्रवण कलात्मक भी है—

“उलट पड़ा वह दिव-रत्नाकर
पानी नीचे ढलक बहा
तारक-रत्नहार सखि, उसके
खुले हृदय पर झलक रहा !
“निर्दय हैं या सदय हृदय वह ?”
मैंने उससे ललक कहा
हँस बोला—“ग्रह-चक्र देख लो !”
पर न उठे ये पलक हवा !

‘यशोधरा’ के इस उद्धरण में एक भी शब्द व्यर्थ भरती का नहीं है। भाषा की अभिव्यंजना स्पष्ट है।

६. कुछ ऐसे प्रयुक्त शब्द भी हैं जो खड़ी बोली के नहीं फिर भी भावाभिव्यक्ति कराते हैं—

- (१) इससे सूक्ष्म दर्शिता ही तुम अपनी मुझे जताती हो !”
- (२) सबने मेरा भाग्य सराहा, सब ने रूख बखाना !”
- (३) “प्रेम पात्र का क्या देखेंगी, प्रिय है जिसे लेखती हम !”
- (४) “तो निज कथित गुणों की,
सबको तुम सत्यता जना दोगी !”

कही “मान्या” की तुक पर “वदान्या”, “बादो” की तुक पर “बादों” आदि शब्द भी प्रयोग करने पड़े हैं।

७. कही ‘त्वेष’ ‘अरंतुद’ ‘अर्णव’ जैसे अप्रचलित शब्दों का प्रयोग किया है—

- (१) “अर्णव सा दपण भी छूटा !”

(२) “अरन्तुइ वाक्य हो कहते अहो तुम !”

आवश्यकतानुसार कहीं शब्दों का रूप बदल दिया है—

(१) “जो जन तुम्हारे पद-कमल के

असल मधु को जानते !”

(२) “धसकने सी लगी नीचे धरा भी

पसी तो पर न पाषाणी जरा भी !”

महाश्वर प्रसाद द्विवेदी भी कहा करते थे “तुकीली नाक” क्या बुरा है जो “नोकवती नासिका लिखा जाय ? “नाचता हुआ मोर” लिखने में क्या हानि है “प्रवृत्त्यमान मयूर” लिखा जाय। गुप्तजी अपने काव्य की सीधी परंपरा में लेते हैं। भाषा सम्बन्धी जो आदर्श उन्होंने प्रस्तुत किया, गुप्त जी पालन करते गए। व्याकरण दोष उनकी भाषा में कम हैं।

८. गुप्तजी ने शब्दों का निर्माण भी कर लिया है—

(१) “वाक्य सुनने को हुई उत्कर्षणा !”

(२) “आ गुराई से मिला आरुण्य है !”

९. मुहावरों, लोकोक्तियों के प्रयोग द्वारा भी गुप्त जी ने भाषा की शक्ति बढ़ाई है—

(१) “हाँ गोपा का दूध जमा है राहुल मुख में तेरे !”

(२) “भरे जीवन के रस तूने मुझसे मुंह मोड़ा !”

(३) “भरे है अपने भीतर आग तू ! री छाती फटी न हाय !”

(४) “और जमाना चाहा उसने

उनके अधिकारों में पाँव !”

(५) “अपना पानी भी नहीं रखता अपनी बात !”

(६) “किसी ओर प्रीवा मोड़ा

कधे से कंधा जोड़ो !

(७) “मरते मरते बचा इसी से फूट गया तू !”

- (८) “चढ़ गधे पर कौन जन बैकुण्ठ जाना चाहता !”
 (९) “तिस पर विदेशी सम्यता का भूत हम पर चढ़ गया !”
 (१०) “हम लोग कहने से किसी के क्यों कुंए में गिर पड़े ?”
 (११) “संध्या समय वे भी नशे में दीख पड़ते चूर हैं !”
 (१२) “नट तुल्य पल पल में बदलते हम अनेको रंग हैं !”
 (१३) “जीते यहाँ पर हैं बहुत खाकर मदेव हराम का !”
 (१४) “बस कागजी घुड़दौड़ में है आज इति कर्तव्यता !”
 (१५) “मुड़े पसीने की जगह लोहू बहाने को जुड़े !”
 (१६) “गुजर थे लौट पड़े प्राणों पर खेलके !”
 (१७) “हूल दिया हाथी ललकार कर वार ने !”
 (१८) “टूट कर पानी भी पहाड़ काट जाता है !”

‘भारत भारती’ में अंग्रेजी शब्दों का उर्दू का भी यथेष्ट प्रयोग मिलता है।—

- (१) “फ्री थाट ही वह वेद के बदले रटाती है हमें !”
 (२) “साहब हमें यूरोपियन हिस्ट्री न अब सिखलाइए !”
 (३) “बी० ए० न हो हम तो भला डिप्टी गिरी रखी कहाँ ?”
 (४) “या तो कहीं बन कर मुहर्रिर पेट का पालन करो !”
 (५) “वे नाच मुजरे और जलमे हैं उन्हीं से लग रहे !”

जापान के लिए एक जगह “जयपाणि” शब्द का प्रयोग किया है ?

विशेषता:—गुप्त जी की भाषा सम्यन्धी सबसे बड़ी विशेषता है पूर्ण अधिकार। प्रसंग चाहे कैसा ही हो भाषा उसकी अभिव्यंजना में निरंतर सहायक मिलेगी, वह चाहे छन्द बद्ध हो-~~आ~~ छन्द मुक्त। निरंतर प्रवाह, सक्षमता है। कवियों पर मार्मिक चोट देखिए:—

“सोचो, हमारे अर्थ है यह बात कैसे शोक की
 श्री कृष्ण की हम आड़ लेकर हानि करके लोक की।

भगवान को साक्षी बना कर यह अनंगोपासना
है धन्य ऐसे कविवरों को, धन्य उनकी वासना !”

एकांत में ‘यशोधरा’ संधान करती है--

“आओ हो बन वासी !

अब गुप्त भार नहीं सह सकती
देव, तुम्हारी दासी !

राहुल पलकर जैसे तैसे
करने लगा प्रश्न कुछ वैसे
मैं अबोध, उत्तर दूँ कैसे ?

वह मेरा विश्वासी !...

उसे बताऊँ क्या, तुम आओ
मुक्ति युक्ति मुझसे सुन जाओ
जन्म मूल मातृत्व मिटाओ,

मिटें मरण चौरासी !...

सहे आज यह मान तितिक्षा
रूमा करो यह मेरी शिक्षा
हमीं गृहस्थ जनों की भिक्षा,

पालेंगी सन्यासी !...

मुझको सोती छोड़ गए हो
पीठ फेर मुँह मोड़ गए हो
तुम्हीं जोड़ कर तोड़ गए हो,

साधु-विराग-विज्ञासी !...

जल में शतदल तुल्य सरसते
तुम भर रहते, हम न तरसते
देखो, दो दो मेघ बरसते,

मैं प्यासी की प्यासी !

आओ हो बन वासी !”

इसमें न तो कोई शब्द कठिन है, न प्रवाह में बाधा है। ध्वनि तथा मुहावरों ने उसकी विरह-व्यंजना को घनीभूत कर दिया है। पढ़ने के उपरांत 'मैं प्यासी की प्यासी' का पंक्ति धूम-धून कर पाठक के सम्मुख यशोधरा का विरह-विदग्ध रूप प्रस्तुत कर देती है।

“पद्मिनी के पास मत्त मराल से

हो गए आकर खड़े स्थिर चाल से !”

जिस प्रकार कमलिनी के पास मत्त इस आकर स्थिर हो जाय उसी प्रकार लक्ष्मण उर्मिला के पास आकर खड़े हो गए। यहाँ केवल दो शब्द अलग अलग चित्र-विधान भी करते हैं और 'मत्त' विशेषण उसकी अलसता, मंथरता, निर्भीकता को भी व्यक्त कर देता है।

युद्ध की तैयारी के समय भी भाषा समर्थ रहती है--

“हिलने डुलने लगे पंक्तियाँ में वँटे बेड़े

थपकी देने लगीं तरंगें मार थपेड़े

उल्काएं सब ओर प्रमा सी पाट रही थीं

पो पी कर पुर तिमिर जीभ सी चाट रही थीं !

हुई हतप्रभ नभोजित हीरों की कनियों

मुक्तियों सी वेध न ले भाला की अनियों !”

“साका, साका आज वहीं साका है शूरो

सिंधु पार उड़ रही यही स्वपताका शूरो !”

भाषा पर अधिकार के और उदाहरण ली जाए--

(१) “राम से सुत का भी वनवास

सत्य है यह अथवा परिहास ?

सत्य है, तो है सत्यानाश

हास्य है, तो है हत्यापाश !”

+

+

+

(२) “वनवास लिया है मान तुम्हारा शासन

बूंगा ज प्रजा का भार, राज सिंहासन ?

पर यह पहला आदेश प्रथम ही पूरा
वह तात-सत्य भी रहे न अम्ब, अधूरा-
जिस पर हैं अपने प्राण उन्होंने त्यागे
मैं भी अपना व्रत-नियम निबाहूँ आगे ?
निष्फल न गया माँ यहाँ भरत का आना
सिरमाथे मैंने वचन तुम्हारा माना !...”

भाषा की दृष्टि से मुझको ‘सिद्धराज’ सर्वोत्कृष्ट रचना जान पड़ती है। भाषा की संपूर्ण शक्तियों का पूर्ण विकास इसी खण्ड काव्य में सफल हो सका है। वैसे ‘सावेत’, ‘यशोधरा’ भी उत्कृष्ट हैं फिर भी उनकी भाषा सर्वत्र गठी हुई चुस्त और मामिक नहीं मिलेगी। तुकों के प्रति मोह-‘तत्तो-रच्ची’, ‘चक्खी-लक्खी’, ‘मल्ली-लल्ली’ आदि-वाला क्षेत्र यदि छोड़ भी दिया जाय तब भी अनेक स्थलों पर भावानुभूति उलझ गई है। कहीं अलंकारों ने गला आ दबाया है तो कहीं शब्द ही असमर्थ रह गए हैं। भरती के प्रयोग भी मिल जाएँगे, व्युत् संस्कृति, श्रुति कटुत्व, न्यून पदत्व आदि दोषों का भी अभाव नहीं है—लेकिन ‘सिद्धराज’ के भाषा पक्ष में कोई त्रुटि शायद ही मिले। गुप्तजी ने और भी खण्ड काव्य लिखे हैं किंतु इतना सफल कोई नहीं हुआ।

आरम्भ से ही भाषा चमत्कार दिखाने लगती है। सध्या की पृष्ठ भूमि देते हुए शिविर का चित्र, परिक्रमा करता हुआ वाया-ब्यूह—जो शौर्य-वीर्य-साहस की सजीव प्रतिमा सी हैं—प्रभाव उत्पन्न करते हैं। सेना का प्रमाण भूषण की भाषा—“साजि चतुरंग वीर रंग में तुरंग चढि”—का स्मरण करा देता है।

“पाके वीर नारियों का गुरुफ स्पर्श हींस के
प्रीवा भंग पूर्वक तुरंग चले नाचते
देते हुए ताल, लय बाँध टाप-थापों से।
मानों उड़ जाते अश्व, यदि गज शुण्डों-सी
दो दो उरुओं से कसे होतीं वे न इनको !
हाथों में विशाल शूल चमचम होते थे
नालों पर मकुटि-मुचाप चढ़े आप थे

“दमक रहे थे मुख-दर्पण व्यो धूप में
देख सकता था कौन आँख वाला सामने ?

भनन भनन नाद हो रहा था रथ का !”

इस वर्णन में विरोधाभास, शब्द ध्वनन, उत्प्रेक्षा, रूपक, वीप्सा उपमा आदि अलंकारों की छटा तो है ही, भावों की अभिव्यंजना भी उतनी ही जोरदार है। हीस कर, गरदन मोड़ कर टापो की नियमित ताल देकर नाचते हुए घोड़ों का चलना एक ओर; जोंधो से दबा कर उन्हें कसे रखना, स्त्री सैनिकों के हाथों में लम्बे त्रिशूलों का चमकना, दर्पण की तरह सूर्य के प्रकाश में दमकना—जिससे ओज तथा काति टपकती है—दूसरी ओर घोर रथ का जनन भनन नाद करते हुए मंथर गति से आगे बढ़ना तीसरी ओर इतने विविध दृश्य, भाव भंगिमा, केवल एक वर्णन द्वारा उपास्थित किए गए हैं और एक भी शब्द अस्पष्ट नहीं। हीरे की तरह अपने स्थान पर जड़ा हुआ है—इधर से उबर हटाया ही नहीं जा सकता।

भाषा पर ऐसा अधिकार अन्यत्र नहीं मिलता। किसी तथ्य की व्यंजना करनी हो, पात्र का चरित्र सामने लाना हो यहाँ तक कि लज्जा आदि अमूर्त भावों का विधान करना ही भाषा सर्वत्र उसके अनुकूल हो गई है। एक युद्ध वर्णन लीजिए—

“हूल दिया हाथी ललकार कर बीर ने
प्रवल चलाचल यशः पटह नाम का
मारकर टक्कर, चिंघार कर उसने
दुर्ग के किवाड़ फाड़ डाले तोड़ ताड़ के !
आड़ में उसी की बच, बेरियों को मारते,
घुस गए सैनिक प्रचण्ड नाद करके
रह गए शत्रु क्षण काल जड़ी भूत से
अक बक भूल, दुई हार इसी बीच में !”

जितनी शांप्रता से युद्ध आरम्भ होता है और वीर सैनिक दनादन मार मार कर जितने कम समय में शत्रुओं को रथ क्षेत्र में बिछा देते हैं—वही

शीघ्रता इस भाषा से भी प्रकट है। शत्रु ठिठके-क्या करें क्या न करें— तो निश्चय करने का अवसर ही नहीं मिला—हार गए ! कैसी यथार्थ व्यंजना है।

जगद्देव की देशभक्ति, अखण्ड भावना व्यजित है और एक भी शब्द कोष को अपेक्षा नहीं रखता —

“मेरी यह जन्म भूमि जननी जगत में
मेरे प्राण रहते रहेगी महारानी ही—
किंकरी न होगी किसी और नरपाल की !
पंचतत्व मेरी पुण्य भूमि के है मुझमें ।
कहला रहे हैं यही मुझसे पुकार के
हम परतन्त्र नहीं, सर्वथा स्वतन्त्र है ?”

सरलतम भाषा है, फिर भी कितनी सशक्त है

खंगार की प्रेम याचना तथा जयसिंह का भर्त्सना के उपरांत बणन देखिए —

(१) “...तुम्हारा यह रूप तो

देवों के लिए भी लोभनीय-शोभनीय है !

किंतु मैं खड़ा हूँ आज याचक बना हुआ

आकर तुम्हारे मनोद्वार पर मानिनी ।

लाख सकटों में एक सान्त्वना की आशा से !

कल्पना कीजिये आपके दरवाजे पर एक भिखारी आकर माँगता है—कितना दयनीय, अश्रुमय निरीह रूप होगा उसका ! यदि आपके स्थान पर कोई रमणी खड़ी हो तो उसके भावों में कैसी उथल पुथल होगी ! ठीक वैसा ही चित्र गुप्त जी ने यहाँ उपस्थित कर दिया है। सम्राट खंगार प्रेम की भीख माँग रहा है वह भी कुम्हार की पुत्री रानकदे से, जो “मानिनी” है ! क्या वह उसकी एकमात्र आशा भी नष्ट कर देगी ?

(२) “लेकर भी शोणित कृपाण निज कर में
 स्तब्ध जयसिंह वहाँ जड़ सा खड़ा रहा
 देर तक, हत मुख तेज, नत नेत्र थे
 “फेक कर खड़ग खर दृष्टि डाल अंत में
 रानक की ओर, और एक लम्बी साँस ले
 लौट, धीरे धीरे वह बाहर चला गया !”

अभी रानकदे उसे फटकार चुकी है और जगद्देव से भी उसे झुकना पड़ा है। हाथ में तेज तलवार है फिर भी वह कुछ कर नहीं सकता। पतिव्रत धर्म के सम्मुख उसे हार माननी पड़ी है। देर तक किर्तव्य विमूढ़ सा दीखता खड़ा रहता है मुख निस्तब्ध है और नेत्र झुके हुए ! जैसे कोई चितित व्यक्ति धीरे धीरे लम्बे कदम डाल कर चलता उसी प्रकार जयसिंह ने एक बार तीव्र दृष्टि से रानकदे की ओर देखा (रानकदे को नहीं), एक लम्बी साँस ली (कि वह उसे प्राप्त नहीं कर सकता) और धीरे धीरे बाहर चला गया ।

इतना अर्थ व्यंजित करना भाषा की शक्ति द्वारा संभव हुआ है। सखी-कांचनदे का वार्तालाप है—

हास परिहास के समय भी भाषा कमजोर नहीं है—

“आली गई और बोली व्यंग्य कर बाला से—
 बन्दी किंतु राजा और घर में अतिथि से
 पूछना न चाहिए क्या योग क्षेम उनका ?”
 भृकुटी चढ़ा के उसे देख खर-दृष्टि से
 बोली वह—“इसके लिए क्या मैं नियुक्त हूँ
 जाऊँ नित्य नित्य जो ? न जाऊँगी, न जाऊँगी !”
 “ठीक बात ! राजा रहें, बन्दी वे हमारे तो !”
 “किंतु अब भी हैं वे स्वतन्त्र निज मन से !”
 “मेरा भाव था, क्यों तुम जाओगी भला वहाँ ?”

“किंतु यदि जाऊँ, कौन रोक लेगा मुझको ?
जाती हूँ अभी मैं ! किंतु कांचनदे बैठी थी।
“जाना चाहती हो, किंतु जाते नहीं बनता
आएंगे स्वयं ही अब और कर घर के
दुःख यही, लेकर तुम्हें वे चले जाएंगे !”
दौड़ कर आली गले लग गई बाला के
गद्गद थीं दोनों किन्तु हर्ष या विषाद से !

इस वार्तालाप से उनकी स्नेह भावना, चरित्र, भविष्य की मधुर कल्पना और कांचनदे के चले जाने का विवाद—सभी कुछ व्यक्त हो गया है।

जयसिंह और मदनमोहि राजनीति, धर्म, समाज व्यवस्था, आर्य गौरव, विदेशियों के प्रति व्यवहार—सभी विषयों की चर्चा करते हैं। भाषा ने यहाँ भी अभिव्यक्ति का साथ दिया है। जीवन के एक सत्य की व्याख्या की गई है—

“एक क्षण ऐसा इस जीवन में आता है
एक दृष्टि में जो नरसृष्टि रच जाता है !
जीवन का बोध अकस्मात् ही तो होता है
मुग्धा पल भर में ही मध्या बन जाती है !
खिंच खिंच जाता मन जब कहीं तन से
भाता है विशेष तब जन को विजन ही !”

इस प्रकार ‘मिठ राज’ को भाषा कहीं भी कुण्ठित नहीं।

इस विवेचन से स्पष्ट हो जाता है गुप्त जी का खड़ी बोली के निर्माण में क्या महत्व है। यदि भारतेन्दु की खड़ी बोली का एक पदम उठा कर गुप्त जी की कविता के बराबर रखा जाय या ‘प्रिय प्रवास’ और ‘साकेत’ की कविता का तुलनात्मक अध्ययन किया जाय या स्वयं गुप्त जी की रचनाओं में ‘जयद्रथ वध’ की भाषा ‘मिठराज’ की तुलना में रख दिया जाय तो उनका योगदान साफ ज्ञात हो जायगा। खड़ी बोली हिन्दी के वे सौ महाकवि हैं, भाषा की दृष्टि से अध्ययन

उनका स्थान क्या है यह भी स्पष्ट हो जायगा त्रुटियों भी मिल अवश्य जायेंगी लेकिन ध्यान रखना चाहिए गुप्त जी खड़ी बोली को भाषा बनाने वालों में हैं, काट छोट कर सजाने वालों में नहीं —सजाया भी है सो साधन रूप से ही । उनकी भाषा का महत्व नीव तैयार करने में है—यही वास्तविक महत्व है । गुप्त जी का संपूर्ण साहित्य वह विस्तृत आधार शिला है जिस पर स्वयं उन्होंने तथा अन्य कवियों ने खड़ी बोली हिंदी भाषा का विशाल भवन खड़ा किया । वह गद्य पद्य दोनों की एक मात्र भाषा बन गई ।

अध्याय १३

गुप्तजी की समन्वय भावना

गुप्त जी की रचनाओं में 'रंग में भग' से लेकर 'नहुष' तक जीवन तथा साहित्य के प्रत्येक क्षेत्र में समन्वय की भावना मिलती है। समन्वय का तात्पर्य कुछ भुंकना या एक नवीन मध्यम मार्ग खड़ा कर देना तो नहीं होता, हाँ, विभिन्न तत्वों को आदर्श रूप में मिलाना अवश्य होता है। यह मेल इस भाँति होता है कि जेवक या कवि मौलिकता भी बनाए रखे। न तो सुधारवादी निगुण पंथ खड़ा करने वाले कवीर समन्वयवादी थे, न पुष्टि मार्गी भक्त तथा कवि सूरदास, जब कि तुलसी और जायसी समन्वयवादी थे। विभिन्न तथ्यों मतों व दृष्टिकोण या सिद्धांतों को मिलाने की यह प्रेरणा या तो कवि को संस्कारों से मिलती है या समाज की स्थिति से। उस पर देशकाल का प्रभाव पड़ता है। गुप्त जी की समन्वय प्रवृत्ति दोनों ओर से मालूम पड़ती है। वैष्णव धर्म का परंपरागत प्रभाव तथा भारत की सामाजिक आदि परिस्थितियों द्वारा उन्होंने प्रेरणा ली है। विशेषता यह है कि अपनी अनन्यता भी स्थिर रखी है।

गुप्त जी ने जिस समय लिखना आरंभ किया, उस समय भारतवर्ष विदेशी सत्ता के अधीन था। राष्ट्रीयता की गूंज ही अवश्य रही थी, जब कि अहिंसात्मक सभ्यता, आचार विचार का भी प्रभाव कम नहीं था। कुछ लोग उन्हीं का दृष्टिकोण से भारतीय धर्म नीति आदर्शों का उपहास करने लगे थे। इसी के विपरीत कट्टर पंडित वर्ग प्रत्येक नवीन सुधार को अस्वीकार कर देता था। साधारण जनता कर्तव्य अकर्तव्य नहीं समझ पा रही थी। सारे समाज में, मानव जीवन में, साहित्य में अव्यवस्था थी। कहना चाहिए निर्णित आदर्श, लक्ष्य ही न था। इस स्थिति में सुधार लाकर सुख, शांति का विधान करना गुप्त जी का लक्ष्य रहा।

उनके 'राम' पथ दिखाने के लिए आए, उनकी 'भारती' भारत के कोने कोने में जागरण का संदेश देने को गूँज उठी। गुप्त जी ने जो भी आदर्श उपस्थित किए हैं वे एकांगी नहीं—भुक्ति-भुवित का, प्रेम वीरत्व का शासक-शासित का, जाति-उपजाति का, पूर्व-पश्चिम का, लोक-शास्त्र का, भाषा संस्कृति का समन्वय प्रत्येक क्षेत्र में मिलेगा।

इस समन्वय प्रवृत्त को अन्यान्य क्षेत्रों में देखा जा सकता है।

१. राजनैतिक क्षेत्र:—उनकी रामराज्य की कल्पना आदर्श राज्य की कल्पना है। जहाँ शासक-शासित का निश्चित सम्बन्ध होता है। व्यवस्था कैसी होनी चाहिए? इस सम्बन्ध में उनका कहना है परिस्थिति के अनुसार कहीं एक तंत्र उचित है कहीं लोकतन्त्र। वसे सगठन तथा संघ ही सबसे अधिक शक्ति है क्योंकि उसमें अधिकार कर्तव्य का बोध सब पर है। भारत के प्राचीन प्राय दिग्विजय करते थे—यह उनके लिए सार्थक था। आज स्थिति बदल गई है तो दूसरा रूप भी हो सकता है। यह है शासन-व्यवस्थाओं का समन्वय।

“तो क्या निज पूर्वजों का दिग्विजय व्यर्थ था?”

“सार्थक था वह तो अवश्य उनके लिए जानने थे ठीक वे ही देश-काल अपना रहती नहीं है सदा एक स्थिति लोक की! होते उनमें भी कभी कोई दिग्विजेता थे हम ता सभी के सभी एकच्छत्र योग्य हैं! एक युग में ही एकतंत्र कहीं होता है और गण तन्त्र कहीं, जो भी जहाँ ठीक हो!”...

×

×

×

“व्यक्तिगत कोई रहे चाहे जितना बड़ा
संघ में ही शक्ति, गति एक वही सबकी!

शासक के लिए वे समदृष्टि आवश्यक मानते हैं, उसका कर्म है प्रजा की सुख शांति की वृद्धि में लगा रहना। प्रजा की, मंत्रिपरिषद की सम्मति माननी चाहिए। निर्भीक स्वावलंबी होना चाहिए। स्वदेश प्रेमी तथा आश्रम धर्म का पालक हो।

ये सब गुण राम, सिद्धराज में प्राप्त होते हैं। उसे नीति रीति दोनों ही पालनी चाहिए। जयसिंह राज कोष तक की चिंता नहीं करता क्योंकि—

“राज कोष गिकत ही तो चिंता नहीं मुझको
राज्य में प्रजा की सुख सिद्धि, विधि वृद्धि हो
पुष्ट प्रजा जन ही हैं सच्चे धन राजा के !”

अन्यत्र वही किसान का ऋण स्वयं चुका देता है। अयोध्या के नागरिक इसलिए स्वर्ग से अधिक आनन्द का अनुभव करते हैं।

“अलग रहती है सदा ही इतियाँ
भटकती हैं शून्य में ही भीतियाँ
नीतियों के साथ रहती नीतियाँ
पूर्ण हैं राजा-प्रजा की प्रीतियाँ !”

मालव राज्य का प्रतिनिधित्व सा करते हुए जगदेव अकेले ही जयसिंह को सत्ता का विरोध करता है देश के लिए उसका प्रेम व्यक्त है—

‘मानूँ किस भाँति मैं अवन्ती नाथ तुमको ?
वह पद चाहो यदि, जीता मुझ पहिले
लड़ने को प्रस्तुत हूँ सबसे अकेला मैं !
सच्चे यदि वीर हो तो एक एक करके
आओ, जिस, भाँति चाहो, मुझमे निपट लो !”

प्रजा का राजा के प्रति कर्तव्य भी बतलाया है। अयोध्या के नागरिक राजभक्त हैं। शत्रुधन द्वारा उद्धोषित होने पर साकेत का पत्ता पत्ता जाग उठता है। क्या नगर को राम रहित सुनने पर कोई नाण्डलिक विद्रोह हो गया, या शत्रु ने आक्रमण कर दिया ? बच्चे, भ्राता, पत्नियाँ सब की सब युद्ध में राजभक्ति दिखाने के लिए तैयार होने लगती हैं।

‘सिद्धराज’ में तो रचितमाता तक शासक के अधिकारों का मान करती है, वह चाहे उसका पुत्र ही हो, पर आज्ञा नहीं दे सकती, सम्मति दे सकती है—

‘किंतु आज्ञा देना, यह मेरा नहीं, राजा का
काम है, भले ही उसे सम्मति मैं दे सकूँ...

जानती हूँ, जो कुछ करूँगा, जयसिंह को
 होगा शिरोधार्य वह, किंतु हम सब को !
 मान्य है स्वतन्त्र अधिकार सदा सब के
 क्योंकि—मेरी गोद में है सदा मेरा पुत्र राजा भी
 किंतु मेरा राजा वही मेरे सिर माथे है !”

यह है राजा-प्रजा को भावनाओं का समन्वय ।

२. सामाजिक क्षेत्रः—गुप्त जी ने देखा दुर्भिन्न, दरिद्रता से कृषक, साधारण जन समाज-सभी पीड़ित है । भिखारो घूमते हैं, सरकार सभाएँ कराती है पर त्राहि त्राहि कम नहीं होती । व्यापार नष्ट होता जा रहा है, अपना सुवर्ण देकर दूसरों का कोंच रुचिकर प्रतीत होता है । राजा, रईस अपने शराब-कवाब में मस्त हैं—उनके सुपुत्र भी तोंतर पतंगे हा लड़ाते हैं । अविद्या का अधिकार फैला है, उपन्यास कविता सब विज्ञान की सामग्रो बनती जा रही है । उपदेशको का चंदे के बिना काम नहीं चलता । ब्राह्मण, क्षत्री सब मर्यादा का उलघन कर रहे हैं । और नारियों अब कलह कुशल है ! कहीं बेजोड़ विवाह होता है कहीं वर-कन्या विक्रय ! लकीर के फकीर बने हुए हैं । वैयक्तिक रूप से मात्सर्य, ईर्ष्या, व्यभिचार कलह, पाखण्डों की वृद्धि हो रही है, समाज का सारा ढाँचा चूर चूर हो रहा है ?

गुप्त जी यहाँ भी प्राचीन व नवीन मान्यताओं में समन्वय चाहते हैं । इसके लिए उन्होंने तीन मार्ग अपनाए हैं—

(१) कुरीति, पाखण्ड का खण्डन, जब वे स्वयं व्यंग्य करते हैं—

“हो आध सेर कवाब मुझको, एक सेर शराब हो
 नूरेजहाँ की सलतनत है, खून हा कि खराब हो !”

x

+

x

(२) प्राचीन आदर्श उपस्थिति कर :—

“लेकर विदेशी टीन हम सानंद चाँदी दे रहे
 देकर तथा सोना निरन्तर हैं गिलट हम ले रहे ।

हम काँच लेकर दूसरों को दे रहे हीरे खरे
निज रक्त के बदले गहीपक ले रहे हैं, हा हरे !”

(२) प्राचीन आदर्श उपस्थित कर—

“वे मोह बंधन मुक्त थे, स्वच्छन्द थे स्वाधीन थे
संपूर्ण सुख संयुक्त थे, वे शान्ति शिवगासीन थे
मन से, वचन से, कर्म से वे प्रभु भजन में लीन थे
विख्यात ब्रह्मानन्द-नद के वे मनोहर मीन थे !”

×

×

×

“वे आर्य ही थे जो कभी अपने लिए जीते न थे
वे स्वार्थ रत हो मोह की मदिरा कभी पीते न थे !
संसार के उपकार-हित जब जन्म लेते थे सभो
निश्चेष्ट होकर किस तरह वे बैठ सक्त थे कभी ?”

(३) आदर्श समाज का वर्णन करते हुए उन्होंने साकेत के नागरिकों का सामाजिक जीवन या सिद्धराज' में महोदयों के नागरिकों के जीवन का चित्रण किया है—

“एक तरु के विविध सुमनों से खिले
पौर जन रहते परस्पर है मिले !
स्वस्थ, शिक्षित, शिष्ट उद्यागो सभा
वाण्य भोगी, आंतरिक योगी सभो !”

×

×

×

“...वन हैं वहाँ के उदवन से प्रकृति के
और पुर ग्राम पुरुषार्थ से पुरुष के !...
ऋतुएँ हैं और वहाँ उत्सव हैं उनके
पर्व हैं परस्परा के, गर्व उन्हें उनका
पशुओं में पशुता मनुष्यों में मनुष्यता...
रीति, नीति, प्रीति वहाँ प्रभु की प्रतीति हैं
किंतु आकर्मण्यता नहीं है भाग्य रोने की !.. ”

व्यक्तिगत साधना तथा वैराग्य, घोर विलासिता या संसार से घोर विरक्ति—
दोनों ही चरम सीमाओं का त्याग जीवन में शांति के लिए विधेय ठहराया है।
न तो जीवन रूपी वीणा के तार इतने कस दिए जाँय कि वे टूट पड़े और न इतने
ढीले छोड़ दिए जाँय कि बजे ही नहीं। जीवन की सफलता में दो अन्तों का यद्
समन्वय उनकी विशेषता है—

“दोनों ही निभाता रहा एक सी उमग से
शत्रु-भाग-भंग, राग रंग संग रानी के !”

x x x

“त्यागी भी हैं शरण जिनके, जो अनासक्त गेही
राजा-योगी जनक वे, पुण्य देही, विदेही !”

x x x

“श्रीयुत मदनवर्मा सदन सुकर्मों का
शौर्य में भी, वीर्य में भी, इन्द्र है महाबे का !
संगर-विनोद, राग-रंग, मोद दोनों में
एक सा कुशल है कृती जो गुण गौरवी !
मन से वरुण है, कुबेर वह धन से
देता और भोगता है शूर दोनों हाथों से !...”

नारी जाति के प्रति गुप्त जी की अखण्ड श्रद्धा है। उनका विश्वास है बिना
उनकी उन्नति के हमारा पारिवारिक सामाजिक जीवन उन्नत नहीं हो सकता।
उनकी काव्य सृष्टि में विधृता, उर्मिला, यशोधरा, रानकदे जैसी नारियाँ हैं। पुरुष
और रानी—जीवन के अभिन्न अंगों का भी समन्वय होना ही चाहिए !

“ऐसी उपेक्षा नारियों की जब स्वयं हम कर रहे
अपना किया अपराध उनके शीश पर हैं धर रहे
भागों न क्यों हमसे भला फिर दूर सारी सिद्धियाँ
पातीं स्त्रियाँ आदर जहाँ रहतीं वहाँ सब ऋद्धियाँ !”

३. धार्मिक क्षेत्र:—धार्मिक जीवन में भी भ्रष्टाचार, पाखण्ड बढ़ते जा रहे
हैं। धर्म वस्तुतः आड़-बर हो गया है एक दीवार का परदा सा बन गया है

जप, माना, लूना, तिलक की वृद्धि होती जा रही है जिनने पुरुष हैं उतने ही पंथ बन रहे हैं। संप्रदायों की संख्या उत्तरोत्तर बढ़ रही है जिनका थोथा म्बडन म्बडन सारे धर्म को धुँधला कर रहा है। लोग ईश्वर को भी भूत प्रो जैसी कोई सत्ता मानने लगे हैं। इनके अधिक पवन और क्या ही सकता है? दूसरों पर आज़े करना ही धर्म निष्ठ बन गई है, वगुना भगतों की ही प्रतिष्ठा होने लगी है! शैव-वैष्णवों का पारस्परिक मयप तो है ही, हिन्दू सनातन धर्म के विद्वानों का भी पता नहीं! तीर्थ और पडो ने स्थिति और बिगाड़ दी है। पोर की तरह उन्होंने स्वर्ग का ठेका ले लिया है, अविधि व अविद्या के ही व आचार्य हैं लड़ते हैं, भाड़ते हैं और डडा लेकर अड़ जाते हैं! देवदासी प्रथा ने मंदिरों को, मंडलों को भ्रष्ट कर दिया है और पापूना का जोम-माइ तो गृहस्थों से भी बढ़ गया है। जटाएँ रचना वैराग्य का एक मात्र चिन्ह है! ब्राह्मणों का जप तप स्थान सब ब्राह्मणों के ही सीमित रह गया है, क्षत्रियों ने पूर्वजों का नाम डुमा दिया है, वैश्यों को “हाय पैग, हाय पैसा” चिल्लाने से ही अवकाश नहीं! सारा देश अबः पतन का रग स्थल बन गया है।

इसके सुधार में भी गुप्तजी का सिद्धान्त है बाह्याचारों को छोड़ कर शुद्ध स्वरूप को अपना लो! एक बार भी धर्म को दो तरफने का सकेत नहीं दो। त्याग्य उतना ही है जितना अनुपयुक्त है। यहाँ भी प्राचीनता-नवीनता का समन्वय मिलता है। आदर्श धर्म आर्यों का ही था उसी को हमने अपनाना होता। इसके लिए भी उन्होंने तीन मार्ग अपनाए हैं—

(१) व्यंग्य द्वारा तिरस्कार—

“यदि ये हमारे साधु ही कर्तव्य अपना पाजते—
तो देश का बेड़ा कभी का पार ये कर डालते।
पर हाय! इनमें ज्ञान तो बस राम का ही नाम है—
दम की चिलम में लो उठाना मुख्य इनका काम है।”

×

×

×

“कुछ ‘शीघ्र बोध’ रहा कि फिर वे गणक पुंगव बन गए पंचाग पकड़ा और बस सवेज्ञता में सन गए संकल्प तक भी शुद्ध के साद्यन्त कह सकते नहीं वे पखखाए पाद-पकज किन्तु रह सकते नहीं !”

(२) अतीत का गौरव पूर्ण वर्णन कर—

“जिनकी अपूर्व सुगंध से इन्द्रिय मधुपगण थे हिले सद्भाव सरसिज शर जहाँ पर नित्य रहते थे खिले लहरें उठाने में जहाँ व्यवहार-मारुत लगन था उन्मत्त आत्मा हंस उनके मानसों में मग्न था !”

×

+

×

“संयम नियम पूर्वक प्रथम बल और विद्या प्राप्त को होकर गृही फिर लोक की कर्तव्य रीति समाप्त की हम, अंत में अब बंधनों को वे सदा को ताड़ते आदर्श भावी मृष्टि हित ये मुक्ति पथ में छोड़ते !”

(३) प्रत्येक पात्र में धार्मिक भाव का प्रतिष्ठा कर - गुप्तजी का कोई भी पात्र न तो अधार्मिक आचरण करेगा, न आस्तिक भाव पर अविश्वास ही। धर्म का उन्होंने अत्यन्त व्यापक स्वरूप लिया है जो कर्तव्य का प्रायः समानार्थी है। स्त्री पाने के लिए, माई माई के लिए, पुत्र-माता के लिए, निरंतर अपना कर्तव्य पालने का आदर्श सामने रखते हैं। मिता की अनुपस्थिति पर अभिमन्यु अपना धर्म पालन करता है।

“वह वीर चक्र व्यूह भेदन में सहज सज्जान था निज जनक अर्जुन तुल्य ही, बलवान था, गुणवान था !

“हे तात ? तत्रिण साच का, हे काम ही क्या क्लेश का ?

मैं द्वार उद्घाटित करूँगा व्यूह बीच प्रवेश था !”

और धर्म पालन में प्राण त्याग कर देता है।

लक्ष्मणा राम के लिए चौदह वर्ष का वनवास स्वीकार करते हैं—

“प्रभो ! रक्खो सदा निज दास मुझको !”

तो रानकदे अपना धर्म पालती हुई राती हो जाती है—

“लाज रही रानक की साध्वी सती हो गई !”

राम अपनी मातृ-पितृ-भक्ति के लिए राज छोड़ देते हैं—

“वनवास लिया है मान तुम्हारा शासन !”

तो मीलनदे पति की मृत्यु हो जाने पर भी अपने पुत्र के प्रति धर्म-पालन नहीं भूलती—

“रोता रहा मेरा मृदु माँ का मन फिर भी

मैंने दृढ़ होकर दिलाई उसे शिक्षा है

दे जो सकती थी एक नारी, कुल दीक्षा दी

जानेगी परिस्थिति परीक्षा करके उसे

प्रसन्न है प्रभु की कृपा से वह सर्वदा !”

वह नियमित रूप से पूजा-उत्सवना भी करती है, सोमनाथ में शिव दर्शन की यात्रा भी करती है। अन्य पात्र भी मूर्ति पूजा में विश्वास रखते हैं।

“सन्ध्योपासना में प्रभु और निज पति का

करती है ध्यान सदा वह शरणागता।

गूँज उठती है गज-घंटा ध्वनि बीच में

बाहर से आकर परन्तु नहीं टूटता

ध्यान जा लगा है पति देव में जो उसका !”

‘सिद्धराज’ में एक स्थान पर उन्होंने हिन्दू धर्म और इस्लाम का समन्वय करने का प्रयत्न किया है। इस एकीकरण के लिए तो उन्होंने ‘कावा और कर्बला’ पुस्तक भी लिख दी है। ताकि दोनों पारस्परिक वैमनस्य छोड़ कर मिल जुग कर सकें। स्वभाव में कुछ सुसन्नमान रहते थे, अग्नि पूजकों से उनका विरोध था। सोमनाथ का स्मृति से हिन्दू उकसाए गए तो उन्होंने मसजिद गिरा दी। खलीज राजबानो पाटन में आकर चिल्लाया—

“रहते सभी हैं उस ईश्वर की सृष्टि में

हमको ठिकाना नहीं राज्य में क्या आपके !”

राजा ने स्वयं जाकर घटना सुनी, देवियों को दण्ड दिया और खतीब से कहे गए उसके वचन इस धर्म समन्वय के प्रमाण हैं—

“जाओ डर छोड़ तुम अपनी अज्ञान दो
और गा बजा कर उतारें हम आरती
ऊँचे चढ़ देखो तुम उसकी अनन्तता
और उसे खोज हम अपने में आप ही !
कह दो पुकार कर तुम—वह एक हैं
और हम पावें उसे चाहे जिस रूप में !”

जब ईश्वर ही एक है तो उमासकों का मतभेद कैसे रह सकता है ? हिन्दू मुसलमानों को एक करने का प्रयत्न इससे अधिक क्या हो सकता है ?

स्वयं हिन्दू धर्म के अन्तर्गत कई संप्रदाय हैं। कहीं तो गुप्तजी हिन्दू को आने हिन्दुत्व के प्रति उद्बोधित करते हैं, कहीं ‘वैतालिक’, ‘स्वदेश सगीत’ के रूप में उसके धर्म का स्मरण करने हैं और कहीं ‘गुरुकुल’ लिख कर सिक्खों को भी हिन्दू जाति के अन्तर्गत ही मान कर राष्ट्र भक्ति का संदेश देते हैं। उन्होंने इसकी भूमिका में लिखा है—“लिखन की धुनि कहिए अथवा महापुरुषों की ओर देखन का आर्पण कहिए लेखक को अपने साहित्यिक जीवन के आरम्भ में न जाने किन किन विषयों पर लिखने की उमंग उठा करती थी। महन्चरित्र ससार के किसी भी भू-भाग पर उद्भूत हों—वे सार्वभौमिक होते हैं। इसलिए महाराण प्रतापसिंह, छत्रपति शिवाजी और गुरु गोविन्दसिंह तक ही लेखक की वह लालसा संमित न थी। हज़रत हसन हुसैन पर भी अपनी सहायुभूति प्रकट करने के लिए उसका हृदय उत्कण्ठित हुआ करता था.....

मुसलमानों में गुरुकुल का सन्निध्य रहा है, उनके विरुद्ध ही बहुधा उनके बलिदान हुए हैं। अतएव उन बातों की चर्चा अनिवार्य थी। परन्तु पाठक देखेंगे कि यथास्थान लेखक ने मुसलमानों के प्रति सद्भाव प्रकट करने की पूरी चेष्टा की है—

“हिन्दू हो या मुसलमान हो
नीच रहेगा फिर भी नीच

मनुष्यत्व सबके ऊपर है

मान्य नहीं मण्डल के बीच !”

“हिन्दू मुसलमान दोनों अब

छोड़ें यह विग्रह की नीति

प्रकट की गई हैं यह केवल

अपने वीरों के प्रति प्रीति !”

उपरोक्त उद्धरणों से गुप्तजी की सहिष्णुता का ही बोध नहीं होता बल्कि राष्ट्रीय जागरण के लिए प्रत्येक धर्म को सर्वसामान्य कराने का प्रयत्न भी स्पष्टीभोचर होता है।

४. भक्ति भावना का क्षेत्र :—ईश्वर भक्ति के सम्बन्ध में भी गुप्त जी ने अन्यान्य धारणाओं में समजस्य स्थापित किया है। निर्गुण-सगुण का ही विवाद देख लीजिए। वे मानते हैं ईश्वर निर्गुण है निर्विकार तथा निरीह है किन्तु भक्त के लिए, मानव समाज को सत्पथ पर लाने के लिए उसका अवतार होता है। वह स्वयं अजन्मा, शाश्वत, अव्यय है किन्तु जनहित के लिए उसे मनुष्य रूप में अवतरित होना पड़ता है इसलिए ‘राम’ पुरुष के रूप में—

(१) “हो गया निर्गुण सगुण साकार है !”

‘द्वापर’ के कृष्ण या ‘जयद्रथ-वध’ के कृष्ण का जन्म धारण करना भी जनहित के लिए है। जब जब अनुर अभिमानी उत्पन्न होते हैं धरत-धाम में वैषम्य हो जाता है, भगवद् भक्तों को कष्ट होने लगता है तो उस भक्त वत्सल, लोक रक्षक, असुर-विनाशक को जन्म लेना पड़ता है। यही महात्मा तुलसी ने कहा था—

(१) “सगुनहि अगुनहि नहि कछु भेदा
जमय हरहि भव संभव खेदा !”

(२) “अगुन, अरूप, अलख, अज जोई
भगति प्रेम बस सगुन सो होई !”

गुप्त जी के युधिष्ठिर ने भी कृष्ण स्तुति के समय ऐसे ही विचार व्यक्त किये हैं—

“हे सच्चिदानन्द प्रभो ! तुम निश्चय सर्व सशक्त हो
 अनुपम, अगाध, शुभ परात्पर ईश-वर अव्यक्त हो
 तुम ध्येय, गेय, अजेय हा, निज भक्त पर अनुरक्त हो
 तुम भव विभावन, पय लोचन, आय, पद्मासक्त हो ! ..
 कर्ता तुम्हा, भर्ता तुम्हीं, हर्ता तुम्हीं हो सृष्टि के
 चारा पदार्थ दमान धे ! फल है तुम्हारी दृष्टि के...”

यह तो सगुण रूप हुआ । गुप्त जी की भक्ति निर्गुण के प्रति रहस्य भावना से भी समन्वित है । जब मोती स्वयं मृत्तनः एक है तो अज्ञात, अखण्ड शक्ति से सान्नाह करने में मो कोई हानि नहीं । उनके प्रति विज्ञाता ही नहीं मिलने की आतुर उत्कांठा भी है । भक्त जगत के कण कण में उसी का व्यापक प्रसार देखता है जैसे जायसा—‘ओरी देखहु ठाम्ह ठाऊँ ?’ कहा करते थे । वस्तुतः गुप्त जी इस भक्ति भावना में मयूर उपासना का सामंजस्य दिवान भी कर लेते हैं—

“अच्छी आँख मिलोनी खेती
 बार बार तुम छिरो और मैं
 खाऊँ तुम्हें अकेली !”

(२) वे अद्वैत मानते हैं । यद जीव माया के कारण आकार रूप गुण में बद्ध होता है, जब परमात्मा अधन खोल देता है तो मुक्त हो जाता है—

“अरे दृगते हो क्यों मुझको
 कह कर उमका अटल निधान ?
 ‘कर्तुम कर्तुम मन्यथा कर्तु’
 है स्वतंत्र मेरा भगवान !
 उत्तर उम आप लेना है
 नहीं दूमरी को देना है—
 मेरी नाव किसे खेना है ?
 जो है वैसा दया-निधान !”

(३) भक्त जीवन का उद्देश्य इसी अद्वैत में लीन हो जाना है । किन्तु

सर्व साधारण तो इतनी गूँथी तक नहीं पहुँच सकते ! तो द्वैत की चर्चा भी है। भक्ति रूपी आत्मा अपनी संयत गूँथी हुई माला पहनाने के लिए किसी को खोज में व्यस्त है—

“बड़े यत्न से माला गूँथी
कैसे इसे पहनाऊँ ?
अरे खोजती हूँ मैं किसको ?
मैं हा क्यांन पहन लूँ इसको
भ्रम करके गूँथा है जिसको—”

किंतु बाधा दूसरी है—

“पर निज मुख से निज कर चुंबन
कर किम भौंति अघाऊँ ?”

भला अपने से अपने का लयोन कर वृष्टि कैसे हो सकती है ।

(४) उस परम तत्त्व की खोज में सब लगे हुए हैं किंतु प्राप्त करने में समर्थ नहीं । जानियों की, ध्यानियों की, पूजकों की सब द्वारों पर भीड़ लगी हुई है—सबको अपनी अपनी पड़ी है ! प्रेममार्गों मकर वेचारा असदाय दूर खड़ा है—

‘निकल रही है उर में आह !
ताक रहे सब तेरी राह !

आतक खड़ा चोच खोले है,
संपुट खोले सीप खड़ी
मैं अपना घट लिए खड़ा हूँ
अपनी अपनी हमें पड़ी !”

ठीक यही भाव प्रसाद ने भी व्यक्त किया है—

“सब कहते हैं—खोलो खोले
छवि देखूँगा जीवन धान की—,
आवरण स्थिर बनते जाते
हैं भीड़ लग रही दर्शन की !”

(कामायनी)

(५) अप्रत्यक्ष रूप से यहाँ गुप्त जी ने यह भी व्यजित कर दिया है कि परमात्मा को प्राप्त करने के लिए बाह्याचार निरर्थक है ! वह तो केवल भक्त की भावना देखता है । 'सिद्धराज' में तो उन्होंने पात्रों द्वारा स्पष्ट ही कहला दिया है—

“मेरे चित्रकूट ही में मेरे राम आए थे
मेरे शिव शंकर भी मेरे घर आएँगे !”

x

x

x

“ईश्वर के नाम पर कलह भला नहीं
देखता है भाव मात्र वह निज भक्त का !”

(६) यह तो द्वैत-अद्वैत, दृश्य को शुद्धता, तीर्थ स्थलों में भक्त का जाना, था स्वयं भगवान का भक्त के घर आना—इन तथ्यों का समन्वय हुआ, गुप्त जी ने दास्य भावना-मायुर्य भावना तथा भक्ति पद्धतियों का भी समन्वय किया है ! लक्ष्मण सर्वत्र “दास” ही रहने की चर्चा करते हैं । भक्ति का चरम उद्देश्य ही दास्य भावना है । यह सृष्टि चूँकि परमात्मा से ही बनी है अतः मनुष्य उसका चिरम्भणी है, वह तो केवल हेतु मात्र है जिसके द्वारा ईश्वर अपना कार्य संपन्न करा लेता है ! जो इस रहस्य को समझ लेता है उसे मुक्ति भी काय्य नहीं । चरम लक्ष्य मोक्ष नहीं है “चरण-कमल के अमल मधु” को जानना ही लक्ष्य है । युधिष्ठिर ने यही व्यजित किया है—

“जो कुछ स्वयं तुम कर रहे हो, हो रहा है अब तथा
हैं हेतु मात्र सदैव हम, कर्ता तुम्हीं हो सर्वथा ।”

x

x

x

“पाकर तुम्हें फिर और कुछ पाना न रहता शेष है
पाता न जब तक जीव तुमको भटकता सविशेष है ।”

x

x

x

“है क्या हमारा सृष्टि में ? यह सब तुम्हीं से है बनी
संसत ऋणी हैं हम तुम्हारे, तुम हमारे ही धनी !”
यशोधर तो मुक्ति को भी टकरा देता है -

“यदि हम में अपना नियम और शम दम है
तो लाख व्याधियाँ रहें स्वस्थता सम है
वह जरा एक विश्रांति, जहाँ संयम है
नव जीवन दाता मरण कहाँ निर्मम है ?

भव भावे मुझको और उमे मैं भाऊँ ?”
कह मुक्ति, भला, किसलिए तुझे मैं पाऊँ ?”

स्पष्ट ही उसने जीवन में समय, समता, सतुल्य पर जोर दिया है। एक ओर तो सम दृष्टि रखी है, दूसरी ओर साधक के लिए सत्यो का समन्वयात्मक मार्ग निर्दिष्ट किया है। पद्धतियों का भी समजस्य कर दिया है। माधुर्य-भाव का उदाहरण मैं पहले दे चुका हूँ।

(७) समन्वय वादी इस दृष्टिकोण की विशेषता यह है कि गुप्त जी ने राम सीता के प्रति अपनी अनन्यता भी स्थिर रखी है। जैसे तुलसी ने पंचदेवी की स्तुति की, राम ने शिव की पूजा कराई, देवी देवताओं का स्मरण किया, लेकिन माँगा अंत में सब से यही कि -

“बसहु राम सिय मानस मोरे !” या—

“जनम जनम रघुपति भगति, यह वरदान न आन !”

गुप्त जी भी प्रत्येक काव्य का मंगलाचरण राम-सीता की स्तुति से करते हैं तथा पात्रों से भी यत्र तत्र कहलाते हैं—

“आज हमारे राम हमारे घर फिर आए
चारों फल है इसी लोक में हमने पाए !”

कहीं स्वयं घोषणा सी करते हैं—

“निर्वल का बल राम है

हृदय ! भय का क्या काम है ?

राम वही कि पतित पावन जो

परम दया का धाम है

इस भव सागर से उद्धारक

तारक जिसका नाम है !”

‘द्वापर’ में तो अखण्ड रामभक्ति पर विश्वास प्रकट किया है—

“मुझ पर चढ़ने से रहा राम, दूसरा रंग !”

जो कवि महात्मा गौतम बुद्ध से भी राम की वन्दना कराए, इससे बढ़ कर रामभक्ति का प्रमाण, अनन्यता की पुष्टि और क्या हो सकती है ?

“हे राम, तुम्हारा वंश जात
सिद्धार्थ, तुम्हारी भाँति तात
पर छोड़ चला यह आज रात,

आशीष उसे दो, लो प्रणाम !
आँ चण भगुर भव, राम राम !”

तो समन्यय के साथ अनन्यता भी है। यही मौलिकता है। गुप्त जी को परम वैष्णव के साथ ही व्यापक हिन्दू धर्म का सक्रिय संस्करण कहा जा सकता है। वे हिन्दू जाति, हिन्दू धर्म और हिन्दू संस्कृति को समन्ययात्मक दृष्टि से देखने वाले कवि हैं। उनमें व्यापक भक्ति भावना बहुत धर्म और ज्ञान दोनों की सहानुभूति कराने में समर्थ है।

५. साहित्यिक क्षेत्र:—वहाँ भी भाषा सम्बन्धों, शब्द, शब्दा सम्बन्धों विभिन्न मान्यताओं का सार्नंजस्य करने का प्रयत्न मिलेगा। प्रचीन पद्धति भी मिलेगी और नये भी। राम, बुद्ध, कृष्ण, गोविण्ड यदि पौराणिक आख्यानो से सम्बन्ध रखते हैं तो ‘कथान’ बिल्कुल नये हैं। नारी पात्र है तो पौराणिक लेकिन उनको भावना, व्यपहार, वातावरण वे रामूरा बिल्कुल आधुनिक प्रकार के हैं। गुप्त जी की व्यापक दृष्टि केवल अन्त की ओर ही नहीं गई, वर्तमान समाज के भी ध्यान में रख कर चली है। मनोवैज्ञानिक विश्लेषण तो पूर्णतः नवीन वस्तु है। हास परिहाम के बीच सूक्तियों का विधान भी कर दिया है। चञ्चले चरों आज के साहित्यिक मिहान्तों की चर्चा भी कर ली है। बंदा वैरागी के चित्रण का औरगजेय के पत्र में तत्कालीन स्थिति भलका दी है तो ‘भारत भारती’ बीसवीं सदी में भारतीय समाज की भारती ही तो है जिसमें एक एक वर्ग मानो सवाक् हो कर अपनी कल्याण कथा कह रहा हो। साहित्यकार

मशाल लेकर सज के आगे आगे चला है, इसकी त्रुटियों का डी संभल नहीं करता, आदर्श का संकेत भी करता है। यथार्थ और आदर्श का यह समन्वय गुप्त जी के साहित्य में सर्वत्र मिलेगा। वे महाभारत का युद्ध गाने रखते हैं तो बारडोली पर भी कविता लिखते हैं—

(१) “ओ विश्वस्त बारडोली ! ओ भारत की धर्मा पोली !
नहीं नहीं फिर भी सशस्त्र थी ग्रीक मैनिफो की टांली
हलदी घाटी के रण में भी बड़ी पूर्ण परिपाटी थी
बढ़ बढ़ कर वीरों की सेना बोर बरों ने काटी थी ।
पर तू है निःशस्त्र तपस्विनी फिर कैसे समझ होगी
उपमा आप बनेगी तू यदि चोखी में समझ होगी ।”

(२) ये तो हुए काव्य के विषय जिसमें प्राचीन व नवीन आख्यानों का समन्वय मिलता है। भाषा लजिए। शुद्ध हिन्दी है। आप उसे न तो सस्कृत-बहुला कह सकते हैं न अस्वी-पारसा अथवा—जबकि शब्द दोनों के व्यवहृत हुए हैं। गुप्त जी की भाषा में वे विदेशी इसलिए नहीं लगते कि हिन्दी की प्रवृत्ति के अनुकूल उनकी आत्मसात् कर लिया गया है। भाषा के समन्वय में उनका दृष्टिकोण मैं पहले अध्याय में स्पष्ट कर चुका हूँ। उसमें ‘नेक’, ‘पैठ’, ‘हेरना’ आदि ब्रजभाषा के शब्द भी मिल जाएंगे और ‘घाड़’, ‘घड़ाम’ जैसे प्राचीन शब्द भी। ‘ओदान्य’, ‘अग्निवा’ जैसे प्रयोग भी हैं। हमको देखना यह है कि ये प्रयोग हिन्दी में खटकते हैं या नहीं? कवि इनके द्वारा अभिप्रेत अर्थ उत्पन्न कर सका है या नहीं? यदि दोनों ठीक हैं तो प्रयोग ठीक हैं। भाषा की गति सरिता की भाँति है, साहित्य रुढ़ होने पर उसका विकास रुक जाता है। गुप्त जी ने खड़ी बोली की आधुना सुरक्षित रख कर विभिन्न प्रयोगों का भी उसमें समाहार करने का प्रयत्न किया है।

(३) शैली के समन्वय में भी समन्वयात्मक प्रवृत्ति है। विरह वर्णन में ऊहात्मक पद्धति, प्रकृति का उद्दीपन रूप में विधान, पङ्क्ति वर्णन, बारह-मसा आदि प्राचीन परिपाटी पर हैं तो मनोवैज्ञानिक आधारों देते हुए चञ्जना,

व्यंग्य रूप में बेदना की प्रतीति कराना, संयोग पक्ष की स्मृतियों की वियोग में ला रखना—ये सब नवीनताएँ हैं। यशोधरा को कोयल की कूँठ असह्य है तो कहीं चातकी की रत्न कूँठों से खटकती है। कृतो में पुनः बीज आए लेकिन उसके दिन नहीं फिरे। साज बही है, सज्जा बही है फिर भी जैसे सब अनाथ हो गए हैं।

“मैं भी थी सखि, अपने

मानस की राज हंसिनी रानी

सपने की सी बातें !

प्रिय के तप ने सुखा दिया पानी !”

अलंकार पद्धति में एक और प्राचीनता है उर्मिता जिधर दृष्टि फेरती है ना तो दामिनी दमक उठती है तो नई पद्धति—वस्तु वर्णन द्वारा अपने भाव को व्यंग्य रूप में प्रस्तुत करना भी है—

“दरक कर दिखा गया निज सार जो

हस दाढ़िम, तू खिल खेल

प्रकट कर सका न अपना प्यार जो

वो कठिन हृदय सब भेल !”

अप्रस्तुत वर्णन द्वारा प्रस्तुत की अभिव्यंजना, मूर्त की अमूर्त से तुलना, बिना साम्य के भी उपमा विधान करना—ये सब नवीन पद्धतियाँ हैं। गुप्त जी ने इनका उपयोग किया है। शब्द ध्वनन पर तो परवर्ती रचनाओं में उन्होंने अधिक ध्यान रखा है।

नवीन अभिव्यंजना शैली की प्रमुख विशेषता है नीति-पद्धति। छोटे छोटे गीत, एक ही तंत्र भावना को व्यंजना। कठोर प्रसंगों का यथासंभव बहिष्कार करना और कोमल से कोमल शब्दों में संगीत लाकर मधुरता उत्पन्न करना। प्रसाद, पंत्, महादेशी आदि को कविताओं में यह विशेषता है। कवि अपनी ही अट्भूति को प्रधानता देता है। गुप्तजी ने इस पद्धति का भी समाहार कर दिया—
बह भी खण्ड काव्य, महाकाव्य तक में, मुक्तक की विशेषताओं को प्रबन्ध काव्यों

में 'फिट' कर देना गुप्तजी जैसे महाकवि का ही काम था। 'सोः', 'यशोधरा' में अनेक गीत हैं जिनके द्वारा पात्रों की तीव्र भावनाएँ सूक्ष्म रूपा में व्यञ्जित हुई हैं—

“प्रियतम, तुम श्रुति पथ से आए !

तुम्हें हृदय में रख कर मैंने अधर-कपाट लगाए ।

भरे हास विलास ! किन्तु क्या भाग्य तुम्हें रखपाए ?

दृष्टि मार्ग से निकल गए ये तुम रस मय मन भाए ।

प्रियतम ! तुम श्रुति पथ से आए ?

यशोधरा क्या कहें और अब, रहो कहीं भी छाए

मेरे ये निःश्वास व्यर्थ, यदि तुमकी खाच न लाए !

प्रियतम ! तुम श्रुति पथ से आए !”

x

x

x

“सखि, छिन धूप और छिन छाया

यह सब चोमासे की माया !

गया श्वास फिर भी यदि आया

तो सजीव है कृष भी काया

हमने उसको रोक न पाया

तो निज दर्शन योग गमाया !

ले लो, दैव जहाँ जो लाया

यह सब चोमासे की माया !”

शैली में एक नवीन रसति और है—छन्द परिवर्तन की। यह सर्ग के आरंभ या अंत में छन्द बदलने से भिन्न है। ताल और लय का अधिक ध्यान रखा जाता है। निश्चित मात्राओं का होना भी आवश्यक नहीं। गुप्तजी ने भी कई प्रयोगों को स्थान दिया है।

(१) मैंने अपने सब रस त्यागे

चुप रह, चुप रह, हाय अभाग !”

- (२) “जीर्ण तमी, भूरि भार, देख अरी, एरी !
कठिन पथ, दूर पार, और यह अंधेरी !

सज्जनी उलटी बयार
वेग धरे प्रखर धार
पद पद पर विपद वार
रजनी घन, एरी !”

- (३) “तुम्हे नदीश मान दे
नदी, प्रदीप दान ले !

तुम्हे और क्या दूं ? थोड़ा भी आज बहुत तू मान ले
तम में विषय मार्ग का इसको तुच्छ सहायक जान ले !”

- (४) “भले ही मार्ग दिखाओ लोक को
गृह-मार्ग न भूलो हाय !
तजो ही प्रियतम, उस आलोक को
जे। पर ही पर दर्साय ।”

कही बीच बीच में भी छन्द बदले गये हैं। प्राचीन छन्दों—मात्रिक तथा वर्णिक—का प्रयोग गुप्तजी ने किया ही है। अतुकात छन्द का प्रयोग उन्होंने ‘सिद्धराज’ और अतुवाद ग्रन्थों में किया है। ‘यशोधरा’ में भी अतुकाँत प्रयोग हैं।

“बेटी, उठ, मैं भी तुम्हें छोड़ नहीं जाऊंगा
तेरे अश्रु लेकर ही मुक्ति-मुक्ता छोड़ूंगा
तेरे अर्थ ही तो मुझे उसकी अपेक्षा है !
गोपा बिना गौतम भी प्राण नहीं मुझका !
जाओ, अरे, कोई उस निमम से यों कहो—
भूटे सब नाते सही, तू तो जीव मात्र का
जीव दया-भाव से ही हमको उबार जा !”

इस प्रकार भाषा-शैली के क्षेत्र में भी गुप्तजी की समन्वय भावना ही लक्षित होती है। शुभ, हितकारी तत्व जहाँ भी मिले हैं उन्होंने स्वीकार कर लिए हैं और भारतीय संस्कृति में मिला लिए हैं। इसी व्यापक समन्वयपूर्ण दृष्टि से ही वे भारतीयता के, जनता के कवि हो गए हैं। स्वयं भारतीय संस्कृति-वस्तुतः हिन्दू संस्कृति अनेक तत्वों की मिश्रण स्वरूप है जिन्हें परस्पर अलग नहीं किया जा सकता। गुप्तजी की रचनाएँ इसी हिन्दू संस्कृति की समन्वयात्मक विशेषता को जनता के सम्मुख ला रखती हैं। आचार्य शुक्ल ने ठीक ही लिखा है—
 “गुप्तजी वास्तव में सामंजस्यवादी कवि हैं, प्रतिक्रिया का प्रदर्शन करने वाले अथवा मद में भूमने वाले कवि नहीं। सब प्रकार की उच्चता से प्रभावित होने वाला हृदय उन्हें प्राप्त है। प्राचीन के प्रति पूज्यभाव और नवीन के प्रति उत्साह, दोनों इन में हैं।” †

युग का प्रतिनिधित्व

श्री 'गिरीश' ने गुप्तजी को "सबसे अधिक लोकप्रिय कवि" तो स्वीकार किया है लेकिन प्रतिनिधि कवि मानने से इन्कार कर दिया है। उनके तर्क हैं—

(१) "समाज की प्रस्तुत समस्याओं को सुलभाने वाले सत्य का आविष्कार गुप्तजी ने नहीं किया है, वे अपने आदर्श के लिए वर्तमान राजनैतिक आचार्यों के प्रति ऋणी है और जैसा कि ऊपर कहा गया है, उसको भी साहित्य में अविकल रूप से व्यक्त नहीं कर सके हैं। अतएव, जहाँ तक साहित्य सृष्टि द्वारा समाज के प्रस्तुत और आगामी आदर्श को अनुरंजित रूप देने का सम्बन्ध है, वहाँ तक गुप्त जी को आधुनिक काल के प्रतिनिधि कवि के रूप में भी नहीं ग्रहण कर सकते !"

(२) "गुप्त जी ने अनेक शैलियों का अनुसरण तो किया है किंतु स्वयं ऐसी किसी भी शैली का नेतृत्व नहीं किया है जिसका अनुमान अन्य कवियों द्वारा किया गया हो। अतएव इस दृष्टि से भी गुप्त जी हमारे सामने वर्तमान काल के प्रतिनिधि कवि के रूप में उपस्थित नहीं होते।"

(३) "प्रतिनिधि कवि का पद आकर्षक भले ही हो किंतु साहित्य सृजन की दृष्टि से प्रतिनिधि कवि प्रायः घाटे में ही रहता है क्योंकि प्रतिनिधि कवि की कल्पना और अनुभूति दोनों ही में उतनी तीव्रता नहीं आ पाती जितनी कालांतर में पदार्पण करने वाले कवियों की सुसंस्कृत अभ्यास और साधना द्वारा प्राप्त करने का अवसर रहता है !"

जहाँ तक जीवन का समस्याओं को सुलभाने का प्रश्न है गुप्त जी ने निरन

आदर्श प्रस्तुत किए हैं। आधिकार करने पर ही कोई प्रतिनिधि बन जाय—यह आवश्यक नहीं है। सत्य निरन्तर नवीन नहीं होता, उसका युगानुसार रूप बदल सकता है पर मूल रूप अविभाज्य और एक होता है। फ्रायड या मार्क्स की तरह नवीन व्याख्याएँ चाहे उन्होंने प्रस्तुत नहीं की, किन्तु प्राचीन भारतीय आदर्शों को इस रूप में प्रस्तुत किया जो आज के जीवन में भी उपयोगी हों। मर्यादा, समन्वय, प्रेम, कर्मन्यता आदि आदर्श अब भी पुराने नहीं पड़ गए हैं—‘आउट ऑफ डेट’ नहीं हो गए हैं। उनकी आस्था उन्हीं पर है, भारतीय जन समाज के कल्याण में वही योग दे सकते हैं। यदि गुप्त जी नवीन मान्यताओं की चर्चा तक नहीं करते, तब कहा जा सकता था कि प्रतिनिधित्व नहीं है। लेकिन ‘नहुष’ द्वारा मानसिक घात प्रतिघात व्यक्त हुआ है, वह जीवन की शाश्वत समस्या को मुलझाने में व्यस्त है—पतन के उरगात भी उत्थान का संकल्प करता है। गुप्त जी ने यहाँ मानव मन का विश्लेषण किया है उसके मनस्त्व (Psychology)। समझने का प्रयत्न किया है। ‘विधृता’ (द्वार) के चरित्र में यौन मनोविज्ञान, काम भाव (Oedipus complex) की झलक है। ‘नारद’, ‘बलराम’ कालि के अपासक हैं।

प्रतिनिधि कवि के लिए यह भी आवश्यक नहीं कि सर्वथा नवीन शैली को व्रम दे। तुलसी ने दोहा-चौपाई आदि का विशेष क्रम रखा—तो रामकाव्य परंपरा में हृदयराम जैसे एकाध कवियों को छोड़कर किसने उनकी शैली का अनुसरण किया। स्वयं केशव ने यह परंपरा स्वीकार नहीं की तब क्या तुलसी भी प्रतिनिधित्व से वंचित कर दिए जाय ?

तीसरा तर्क भी युक्ति मुक्त नहीं। साहित्य सर्जन की दृष्टि से उसको प्रतिनिधि होने का गौरव प्राप्त होता है अपने जीवन काल में न सही, बाद में ही रही ! यह स्पष्टतः लाभ है। वह प्राचीन तथा नवीन का संगम स्थल होता है रही उसका महत्व है। जयसी प्रतिनिधि कवि हैं लेकिन उनकी कल्पना और प्रनुभूति की तीव्रता पदमावती के विरह वर्णन से ही की जा सकती है जो समस्त हिन्दी काव्य में उत्कृष्ट निरूपण है ! तुलसी निर्विवाद अपने युग के प्रसन्नविधि

कवि थे जबकि उनकी कविता भी साहित्य श्रेष्ठता को किसी भी कसौटी में पूरी उतरती है।

वस्तुतः प्रतिनिधि कवि पथ प्रदर्शक या नेता नहीं होता। वह केवल अपने युग की विभिन्न मान्यताओं, रीति-नीतियों, सामाजिक, राजनीतिक क्षेत्र के विचारों, परिस्थितियों आदि की झलक दिखाकर आदर्शों का सकेत मात्र करता है जिन पर चल कर जनता या देश चतुर्दिक उन्नति कर सके। गुप्त जी इसलिए प्रतिनिधि कवि है कि उनकी ३४ रचनाओं में केवल पिछले ५० वर्षों के समाज की ही प्रतिध्वनि नहीं बल्कि प्रत्येक नवीनता, दृष्टिकोण परिवर्तन की भी झलक है। सन् १९०० से लेकर १९५० तक भारत की गति विधि निरन्तर उनके सामने रही है। समाज, साहित्य में जो भी परिवर्तन होते गए उनकी विवेचना रचनाओं में मिल जाती है।

हाँ, एक बात विचारणीय है। प्रश्न उठ सकता है क्या गुप्त जी युग का ही पूर्ण प्रतिनिधित्व करते हैं या केवल हिन्दू संस्कृति का? युग का प्रतिनिधि तो शायद न कहा जा सके क्योंकि पिछले ५० वर्षों में अशोक या हर्ष की तरह देश की परिस्थिति नहीं रही। गुप्त जी ने चाहे अन्य धर्मों पर भी लिखा किन्तु वह केवल उदार दृष्टिकोण का परिचायक है। प्रधानतः उन्होंने हिन्दू जनता को की उद्बुद्ध करने की साधना की है। लेकिन जैसा मैं पहले अध्यायी में बतला आया हूँ उनका हिन्दू जागरण राष्ट्रीय जागरण से पृथक नहीं है—उनकी हिन्दू संस्कृति भारतीय संस्कृति की ही समानार्थी है—तो समय रूप से उनको प्रतिनिधि कवि मान लेने में कोई सकोच नहीं होना चाहिए।

• हमें जरा सामाजिक पृष्ठ भूमि देखनी पड़ेगी। भारतीयों को जागरण का संदेश तो नेता, लेखक, उपदेशक देते ही जा रहे थे। सन् १९०६ में दादा भाई नौरोजी देश के सामने स्वराज्य का आदर्श रख चुके थे। अभी तक समाज प्राक्कः सांप्रदायिक रूप में ही विभक्त था। लोकमत और भारत-य राष्ट्रीयता का स्वर अब सूँजने लगा तो गुप्त जी ने उसका प्रतिनिधित्व किया 'भारत-माझ' में एकालीन चित्र ही है। 'रंग में मंग' से लेकर 'भारत-भारती' तक

जनता का प्रतिनिधित्व है। राष्ट्रीय आंदोलन में जितने भी परिवर्तन हुए उनका पूरा प्रतिबिम्ब है। स्वराज्य आदर्श की स्थापना जो राजनीति में हुई थी वह वीरों की प्रशस्ति; ललकार द्वारा उन्होंने व्यक्त की। एकत्र की कल्पना उनकी वाणी द्वारा साकार हो गई--

“पुरुषत्व दिखलाओ पुरुष हो, बुद्धि बल से काम लो
तब तक न थक कर तुम कभी अवकाश या विभाम लो
जब तक कि भारत पूर्व के पद पर न पुनराहीन हो
फिर ज्ञान में, विज्ञान में जब तक न वह स्वाधीन हो।”

सन् १९१६ के उपरांत कुछ अवसर हिंदू-मुसलिम संघर्ष के भी आए। गुप्त जी ने ‘हिन्दू’ और ‘मुसकुल’ की रचना की। इस प्रकार गाँधी का प्रभाव, मार्क्स का प्रभाव, आँग्रेजी कविता का प्रभाव—जिस रूप में पड़ता गया, गुप्त जी मुख्य मुख्य चीजें अपनी रचनाओं में लाते गए।

गुप्त जी के प्रतिनिधित्व को हम इतने रूपों में देख सकते हैं:—

१. सांस्कृतिक प्रतिनिधित्व—⊙ प्राचीन भारत की भाँकी दिखाते हुए गुप्त जी ने तत्कालीन समाज का, आर्यों का पारस्परिक जीवन व्यवहार सामने रखा है। तत्कालीन शासन प्रणाली, देश गौरव, नागरिकों का सुखी-शांत जीवन भारतीय जनता के सम्मुख रखा है। उनके भौतिक जीवन, शिष्टाचार पर प्रकाश डाला है। ‘भारत भारती’, ‘जयद्रथ बभ’, ‘पंचवटी’, ‘साकेत’, ‘द्रापर’ में ऐसे अनेक उदाहरण हैं।

“उन पूर्वजों की कीर्ति का वर्णन अतीव अपार है
गाते नहीं उनके हमीं गुण, गा रहा ससार है।
वे धर्म पर करते निष्ठावर सृण समान शरीर थे
उनसे वही गंभीर थे, नर वीर थे, भ्रुव भीर थे।”

×

×

×

“शुभ शांति मय शोभा जहाँ भव बन्धनों को खोलती
हिल मिल मृगों से खेल करती सिंहिनी थी डोलती
स्वर्गीय भावों से भरे ऋषि होम करते थे जहाँ
उन ऋषि गणों से ही हमारा था हुआ उद्भव यहाँ !”

उन आर्यों का जीवन लक्ष्य क्या था ?

“लखते न अद्य की ओर थे वे अद्य न लखता था उन्हें !
वे धर्म को रखने सदा थे, धर्म रखता था उन्हें !
वे कर्म में ही कर्म का थे नाश करना जानते
करते वही थे वे जिसे कर्तव्य थे वे मानते !”

इसी तरह मध्यकालीन आर्य गौरव का निरूपण ‘सिद्धराज’ में मिलता है,
‘साकेत’ में तो प्रसन्नता ही इसलिए है कि —

“आर्य सभ्यता हुई प्रतिष्ठित

आर्य धर्म आश्वस्त हुआ !”

२. आधुनिक प्रतिनिधित्व—वर्तमान काल की एक विशेषता है मनुष्य का अधिकाधिक बुद्धि प्रधान होते जाना । यह समय का परिवर्तन था । पाश्चात्य शिक्षा, दीक्षा से भारतीय बौद्धिक होता गया । बिना तर्क किए तथ्य को स्वीकार करता ही न था । इसी तुला पर सब मान्यताएँ बदलने लगी । ईश्वर को मंदिर मसजिदों में क्यों खोजा जाय ? उसकी उपलब्धि कहीं भी हो सकती है ? पण्डे, पुरोहितों को इतना महत्व क्यों दिया जाय ? हृदय की शुद्धि पर ही सब निर्भर है । केवल कह देने मात्र से मनुष्य के मिर झुका कर मान लेना अस्वीकार कर दिया । वह श्रद्धा की अपेक्षा कम को अधिक मानने लगा । गुप्त जी के पात्र भी बौद्धिक होते गए हैं । लक्ष्मण तो अपनी अधिहार रक्षा के लिए पिता दशरथ तक से उलझने को तैयार है ?

भारतीय समाज का चित्र ‘हिन्दू,’ ‘किसान,’ आदि में मिलता है ? ‘अनन्य’ ‘वैतालिक’ भी वर्णन हुआ है । ‘किसान’ वस्तुतः ‘गोदान’ उपन्यास के पात्र होती

की तरह भारतीय कृषकवर्ग का प्रतिनिधित्व करता है, उसकी कठ्ठा स्थिति कृषक की बीवनी है। ऋण प्रस्त पिता का स्वर्गवास-साह-महाजन-जमींदार—तीनों का कोप; दंपति तब कुली प्रथा के शिकार न होते तो क्या होते ? एक अंग्रेज ने गर्भिणी पत्नी को भी समाप्त कर दिया। उस समय भारतीय किसान की यही स्थिति थी। उसे विदेशी युद्ध भूमि में ब्रिटिश स्वार्थी की सेवा करते हुए अपना बलिदान करना पड़ा।

वद। बैरागी का जीवन 'गुरुकुल' में सच्चे देश सेवक का प्रतिनिधित्व करता है। पहले कोमल हृदय होने से आध्यात्मिक जीवन की ओर आकृष्ट हुआ। जब गोविंदसिंह ने प्रस्तुत समस्याओं को उसके सामने रखा, तो कर्मक्षेत्र में प्रवृत्त हो गया। उसका सिद्धांत था—

...“जो मनुष्यता के नाशक हैं
मैं हूँ उनके लिए पिशाच !
न्यायासन पर पक्षपात मैं
क्योंकर कर सकता हूँ, बोल
देखें मेरा निर्भय शासन,
उद्धत, अपनी आँखें खोल
दायी हैं उनके भाई यदि
मरें दोषियों में निर्दोष
कुछ सह सकता नहीं शत्रु का
प्रतिहिंसक सेना का राक्ष...”

स्वदेश प्रेम की भावना का पूरा विकास 'सिद्धराज' तक है। बीर काईय घोषित करता है—

“जाग उठे एक एक पत्ता जन्मभूमि का
कॉप चटें शून्य और कुप्रह हमारे बे...”

किंतु धन्य हैं वे नर-नारी धन्य, जिनके
पुत्र, पति, भाई और बन्धु बड़ बड़ के
वीर गति पावें रख मान मातृभूमि का !”

इसी दृग से तत्कालीन कांग्रेसी नेता भारतीय जनता को स्वतंत्रता संग्राम, सविनय आंदोलन के लिए प्रेरित कर रहे थे। राजनीति के क्षेत्र में महात्मा गांधी के आधीन जो जो आंदोलन हुए, उन सब की भलक यहाँ मिल जाती है। पात्र सत्याग्रह पर जोर देते हैं, अहिंसा का आदर्श प्रस्तुत करते हैं। ‘साकेत’ में जो जनता राम के पावों पर लोट जाती है, कि वे न जाएँ !

“लाकमत तक की चर्चा हुई है !
राजा हमने राम तुम्हीं को है चुना
करो न यों तुम हाय ! लोकमत अनुसुना !
जाओ, यदि जा सको नैंद हमको यहाँ—”
यां कह पथ मे लेट गए बहु जन वहाँ !

गुप्त जी की रचनाओं में निरन्तर विश्व प्रेम, मानवता की चर्चा मिलेगी। आज मनुष्य मनुष्य नहीं रह गया है पशु तुल्य जनता जाग रहा है। पारस्परिक ईर्ष्या, द्वेष उन्हें साम्प्रदायिक सीमाओं में आवद्ध करता है। जनता में गांधी के प्रभाव से मानवता की चर्चा होने लगी। पृथ्वी को जब परियार मान लिया जाय तो घृणा रह नहीं सकती। जीव जीव से प्रेम करो। ये आदर्श गुप्त जी की रचनाओं में उपलब्ध है ! इसलिए किसान, मजदूरों के प्रति सम्मान की भावना भी है। हिन्दू विधवा का एक चित्र देखिए—

“हिन्दू विधवा की शुचि मूर्ति
पवित्रता की सकरुण मूर्ति !
कर दें खल छल बल से भंग
तो मरने का कौन प्रसंग !
किम पर है इसका दायित्व
यही सुम्हारा है व्याधिश्व !

कि तुम करो व्याहों पर व्याह
पर विधवाएँ भरे न आह !
तुम बूढ़े भी विषयामक्त
बनी रहे वे किंतु विग्न !”

समाज सुधारक यह वैदम्य देखकर चुप नहीं रहता, प्रश्न करता है ‘इसका उत्तरदायित्व किस पर है?’ ‘भारत भारती’ में उन्होंने डेम्पल विवाह का चित्रण किया है। इस समय भारतीय समाज में यही सोचनीय प्रसंग है ! गुप्त जी इसका भी प्रतिनिधित्व करते हैं !

लेकिन गुप्त जी के पात्रों में नारी के प्रति बड़ी श्रद्धा है। आज नारी का स्तर, महत्व बढ़ रहा है, वह समाज में विशिष्ट स्थान ग्रहण करती जा रही है। १९२० में भारतीय नारी-समाज की जो स्थिति थी वह १९३२ में नहीं है। तो गुप्त जी के नारी-चरित्रों में भी अंतर आ गया है ? समय के अनुसार जो जो विचार बदलते गए, या नए आते गए—गुप्त जी ने सबको अपनी रचनाओं में मानवीय स्थान दिया। *Fraud* के प्रभाव ने मनाविज्ञान के जगत में नवीन मान्यताएँ रखी। सन् १९१५-१६ के उपरांत यह प्रभाव हिन्दी पर भी पड़ा। अनेक कवियों ने रवीन्द्र से प्रेरणा ली; गुप्त जी पर भी प्रभाव पड़ा। यूरोप की यथार्थवादी विचारधारा स्वच्छंद रूप से यौन सम्बन्धों की चर्चा कर रही थी। *Fraud* दो मूल वासनाएँ मान चुका था—काम और लज्जा। मनोविश्लेषण का शास्त्र *Conscious-sub conscious* की समस्या मुनक्काने में लगा। अग्रजों नाटककार बर्नार्ड शॉ ने इन विचारों को अपने पात्रों द्वारा मूर्त रूप दे दिया। उसने तो यहाँ तक कहा है कि नारी शेरनियों की भाँति मनुष्य का शिकार कर रही है—“*She sacrifices herself to it : do you think she will hesitate to sacrifice you ?*”

‘द्वार’ में नारी का यह काम मूलक प्रश्न लिया गया है ? विधृता को उसके पति ने कृष्ण के पास जाने से रोक लिया क्योंकि उसे संदेह हो गया था ! विधृता को उसके अत्याचार पर क्षोभ हुआ। तो क्या नारी के मन में केवल वासना ही, शारीरिक भूख ही होती है ? क्या नारी के कुछ अपने अधिकार भी नहीं हैं ? व

प्रश्न पूर्णतः वर्तमान स्थिति का प्रतिनिधित्व करते हैं क्योंकि नारी के प्रति भारतीय दृष्टिकोण बिल्कुल ही दूसरा था। विधूता के स्वर से मानो अधुना नारी पूछती है—

“हाय ! वधू ने क्या वर विषयक
 एक वासना पाई ?
 नहीं और कोई क्या उसका
 पिता, पुत्र, या भाई ?
 नर के बाँहे क्या नारी की
 नग्न मूर्ति ही भाई ?
 या, बेटी या बहिन हाय ! क्या
 संग नहीं वह लाई ?”

“इस विधूता ने कवि ने स्त्रियों के सम्बन्ध के यौन और अधिकार सम्बन्धी दो आधुनिक दृष्टिकोणों का समन्वय किया ही है और इस प्रकार विधूता के साथ ‘द्वार’ गुप्त जी के अन्य काव्यों से एक निगाने स्थान पर जमा हुआ है !”†

इसी ‘द्वार’ में बलराम जीवन के नवीन रूप को अमानने पर जोर देते हैं। आये पथ पर चलना है, अवश्य पर उसे संकीर्ण नहीं करना है। समय देख कर काम करना ही बुद्धि मानी है। अने युग को हीन नदी समझना चाहिये। दिसा, दम का त्याग उचित है—

“अपनी पवृत्तियों का पोषण
 मिष देवी देवों का !
 अमृत नहीं, वह मृतक पिण्ड है
 विष देवी देवों का !”

यही बलराम एक स्थान पर क्रांतिकारी भावना से उत्तेजित होकर कहते हैं—

“नई सृष्टि के लिए प्रलय भी
 प्रेक्षणीय हो हम को !”

तो नारद विशुद्ध क्रांतिकारी हैं—

“शौंति अंत में आप आएगी
व्यर्थ जन्म, जो क्रांति नहीं !

×

×

×

अरे आग भी कभी लगानी
पड़ जाती है हम यहीं !”

यह मार्क्सवादी चर्चा है जो रक्त क्रांति तथा वगे-मंघर्ष पर ही टिकी हुई है। तो गुप्त जी शांति जीवन व्यतीत करने वाले आर्यों का वर्णन करते करते क्रांतिकारी बलराम और नारद तक आ पहुँचे ! ‘भारत भारती’ से लेकर ‘द्वार’ तक की रचनाओं ने परिवर्तित समय, विचारधारा का प्रतिनिधित्व किया है :

३. समस्या का समाधान—प्रतिनिधि कवि अपने दृष्टिकोण के अनुसार समस्याओं का समाधान भी प्रस्तुत करता है अन्यथा उसका कवि कर्तव्य पूरा नहीं होता। जीवन का विवेचन, तत्वों का विश्लेषण, तब समन्वय का मार्ग—ये तीन ही गुप्त जी के कवि-कर्णव्य रहे ! उन्होंने न तो भौतिकवादी या पदार्थवादो दृष्टिकोण को समाधान माना, न पलायनवादी दृष्टिकोण को ! प्राचीन आर्यों के आदर्शों में ही उन्हें समाधान दिखाई दिया। यह प्रश्न भिन्न है कि उनकी यह मान्यता कहाँ तक ठीक या सही है लेकिन मान्यता तो है ! वैसे आलोचकों ने तो पंत के सांस्कृतिक जागरणवादी ऊर्ध्व दृष्टिकोण को भी हवा में उड़ा देने को चेष्टा की है लेकिन वह एक दृष्टिकोण तो है ! उसकी उपयोगिता समझने का प्रयत्न क्यों न किया जाय !

समन्वय, मर्यादा पालन, त्याग, कर्मनिष्ठा— ये ही गुप्त जी को चिरंतन समस्याओं के समाधान रूप में प्राप्त हुए हैं !

(१) “भूल जयाजय और भूल कर जीना मरना
हमको निज कर्तव्य मात्र है पालन करना !”

×

×

×

“हम हों समष्टि के लिए व्यष्टि बलिदानी !”

x

x

x

(१) “सखे समन्वय कगे भुक्ति का मुक्ति से !”

संपूर्ण जीवन-सागर -मंथन के उपरान्त अमृत-तत्व यह मिला—

“तुम सुनो, सदैव समीप है—

जो अपना आराध्य है—

आओ, हम साधे शक्ति भर

जो जीवन का साध्य है !”

४. साहित्यिक प्रतिनिधित्व—गुप्त जी की रचनाएँ द्विवेदी युग की साहित्यिक प्रवृत्तियों से लेकर छायावादी बल्कि प्रगतिवादी प्रवृत्तियों तक का प्रतिनिधित्व करती हैं। उस समय के वर्ण्य विषय पौराणिक थे—राम चरित्र, कृष्ण चरित्र, शिव चरित्र, संत चरित्र, उपाख्यान आदि। साथ साथ सामाजिक राष्ट्रीय भाव सम्बन्धी कविताएँ भी लिखी जाती थी। गुप्त जी की प्रायः ३० रचनाएँ इन्हीं विषयों पर लिखी हैं। सनी में जातीयता का उद्बोधन है मानव प्रेम, विश्व प्रेम और बलिदान का सन्देश है। ‘मात भारती’ पहली राष्ट्रीय रचना है जिसमें देश जाति की पतनोन्मुखी प्रवृत्तियों पर असंतोष प्रकट किया गया है। ‘भक्तार’ छायावादी कवित्त्यों का उ. की रचनाओं में प्रतिनिधित्व करती है। गुप्त जी की तरह पं० मोहन प्रसाद पण्डेय, पं० राम चरित उगध्याय, गिरधर शर्मा कविरत्न आदि भी महावीर प्रसाद द्विवेदी की काव्य-मान्यताओं को स्वीकार कर ही प्रकार की कविताएँ लिख रहे थे। बीसवीं सदी के ये प्रारम्भिक वर्ष वस्तुतः हिंदू पुनरुत्थान के थे। मौर्वी से लेकर राजपूत वीरों तक की कथाएँ इस उत्थान में सहायक बनीं। ‘मौर्य विजय’, ‘वीर पंच रत्न’, ‘प्रणालीर प्रताप’, ‘वीर हमीर’, ‘सती पद मनी’, जैसी रचनाएँ अन्य कवियों ने प्रस्तुत कीं। गुप्त जी ने इस प्रवृत्ति का प्रतिनिधित्व ‘रंग में भंग’ ‘विकट भट’, ‘गुरुकल’ आदि लिखकर किया।

‘वास्तव में स्वदेशी आंदोलन से पहले हमारे सामने एक ही बड़ा विषय था बड़े था हिंदू जाति का पुनरुत्थान। इन तीस वर्षों में पुराण, इतिहास और धर्म को नई दृष्टि दी गई, हिंदुओं के ऐश्वर्य काल के स्वप्न देखे गये और नई हिंदू संस्कृति गढ़ने की चेष्टा हुई.....’ † गुप्त जी की रचनाएँ स्वतः इसका प्रमाण हैं।

कविता भी राजा-रक्षकों की मनोरंजन सामग्री न मानी जाकर जन-साधारण के लिए लिखी जाने लगी थी। मनुष्य को ही उसका आलंबन बनाया जा रहा था। द्विवेदी जी ने ‘कल्लू अल्लू’ की जीवनी लिखी थी, गयाप्रसाद शुक्ल ने ‘कृष्ण क्रन्दन’ लिखा था। विधवा अनाथों पर लेखकों की दृष्टि जा रही थी। गुप्त जी की रचना ‘किसान’ इसका प्रतिनिधित्व करती थी।

बाद में १९२० के उपरांत भाषा-शैली में परिवर्तन होता गया। जिस प्रकार साहित्य में इतनी शीघ्रता से परिवर्तन हो रहा था, गुप्त जी भी अनुसरण करते जा रहे थे। इसलिए उनकी रचनाओं में तीन अवस्थाएँ लक्षित होनी हैं—

“प्रथम अवस्था भाषा की सफाई की है—जिसमें खड़ी बोली के पद्यों की मधुर बंध रचना हमारे सामने आती है। ‘सरस्वती’ में प्रकाशित आधकाश कविताएँ तथा ‘भारत भारती’ इस अवस्था की रचना के उदाहरण हैं। ये रचनाएँ काव्य प्रेमियों को कुछ गद्यवत्, रूखी और हातवृत्तात्मक लगती थीं। इनमें सरस और कोमल परावर्ण की भाँति कम खटकती थीं। बात यह है कि यह खड़ी बोली के परिभाजन का काल था। इस अनंतर गुप्त जी ने बंगभाषा की कविताओं का अनुशीलन तथा मधुसूदन दत्त रचित ब्रजभाषा, मेघनाद वध आदि का अनुवाद भी किया। इस इनका परावर्ण में बहुत कुछ सरसता और कोमलता आ गई, यद्यपि कुछ ऊँचड़े-खाँड़ और अव्यवहृत संस्कृत शब्दों का ठोकरे कहीं-कहीं विशेषतः छोट छंदों के चरित में अब भी लगती है। ‘भारत भारती’ और ‘वैतालिक’ के बीच की रचनाएँ इस दूसरी अवस्था के उदाहरण में ली जा सकती हैं। उसके उपरांत ‘छायावाद’ कहे जाने वाली रचनाओं का चलन होता है और

गुप्तजी का कुछ भुकाव प्रगति पुस्तको (lyrics) और अभिव्यंजना के लाक्षणिक वैचित्र्य की ओर भी हो जाता है। इस भुकाव का आभास 'साकेत' और 'यशोधरा' में भी पाया जाता है। यह तीसरी अवस्था है।" (२)

गुप्त जी की खड़ी बोली भी हिन्दी भाषा का प्रतिनिधित्व करती है। वह शुद्ध है, साथ ही भावों की पूर्ण अभिव्यंजना करने वाली है—विलकुल 'स्टैण्डर्ड' भाषा है। अर्थ ग्रहण में कहीं भी कठिनाई नहीं। शैली भी परिवर्तित होती रही है जो हिन्दी कविता शैली का परिवर्तन सूचित करती है। 'सरस्वती' के आरम्भिक वर्षों में ऐसी ही कविताएँ लिखी जाती थी जिनमें कवि तटस्थ होकर वर्णन करता था। 'मैं' के स्थान पर 'वह' का प्रयोग करता था। सन् १९१० तक प्रायः यही स्थिति रही। गुप्त जी की कविताओं में भी अन्य पुरुष रूप वाली पद्धति दिखाई पड़ती है—

“निकल पड़ो अब बत कर सैनिक
भय न करा अब प्राणों का
बिन स्वराज के नहो हटगे
कौल रहे मरदानों का
अध होकर पुलिस चलाये डंड
कुछ परवाह नहीं—
घर का माल लूट ले जाये
निकले मुहँ से आह नहीं!”

x

x

x

“लोक शिक्षा के लिए अवतार था जिसने लिया
निर्विकार निरीह होकर नर सदृश कौतुक किया
राम नाम ललाम जिसका सर्व मंगल धाम है
प्रथम उस सर्वेश को श्रद्धा समेत प्रणाम है।

लगभग सन् १९१५-१६ के उपरांत लेखक प्रथम पुरुष में रचना करने लगे।

बाद में जब छायावादी रचनाएँ प्रकाशित होने लगीं तो कवि अपनी अनुभूति को ही प्रधानता देने लगे । गुप्त जी ने देख लिया कि जनरुचि अन्तर्मुखी होनी जा रही है, समय की आवश्यकता समझ कर उन्होंने भी आत्मप्रधान शैली में रचनाएँ आरंभ कर दी । ज्यो-ज्यो गीत काव्य के प्रति जनता का रुचि बढ़ती गई, गुप्त जी भी उत्तरोत्तर उनका अधिक विधान करते गए । 'साकेत' के नवम सर्ग में आधे से अधिक गीत हैं । गद्य-पद्य मिश्रित यशोधरा तक में ५० से अधिक गीत हैं । बल्कि 'साकेत' तक फिर भी प्रबंध का बंधन था, यहाँ तो गीत रचना मुक्त विहार कर सकती थी । हिन्दी कविता में भी सन् १९३०-४० के बीच गीतों की प्रवृत्ति बढ़ती जा रही थी । गुप्त जी ने उनका भी प्रतिनिधित्व कर दिखाया ।

एक क्षेत्र और देख लें—छन्द प्रयोग का । महावीरप्रसाद जी ने कविगणों को संस्कृत वृत्त प्रयोग में प्रोत्साहित किया था । कुछ समय तक इसके साथ ही उर्दू, बंगला छन्दों का प्रयोग भी चलता रहा । गुप्त जी की १९०६ में लिखा एक कविता संस्कृत वृत्त में ही है—

“ज्योंही विद्रुम पद्मराग सम है विबोण्ठ शोभा भली
भी संयुक्त सुवर्ण वह यो है ठीक रतनावली
राजा के सुन बैन यो वह हुई रोमांचित स्तभिता
लज्जा-संकुचिता प्रकंपित तथा स्वदांशु संशाभिता ”

हमने हिन्दी कविता का सौंदर्य न निखलता देख कवियों ने और छन्द गढ़े । कुछ पद शैली, कविता-मयैया की ओर मुड़े, कुछ लावनी आदि छन्दों का व्यापक प्रयोग करने लगे, कुछ कवियों ने नवीन छंद भी गढ़े । गुप्त जी ने इस प्रवृत्ति को भी स्थान दिया । 'भारत भारती' तक भी तबका — हरि-गीतिका छन्दों का प्रयोग किया, बाद में लगभग हटा ही दिया । इसका कारण जनरुचि का बदल जाना भी था । नए भावों को व्यक्त करने के लिए एक तो नए छन्दों की आवश्यकता थी, दूसरे तुक लय से बद्ध छन्दों से जन साधारण को विरक्ति भी होने लगी थी । तो गुप्त जी ने भी छन्द रहित मुक्तक रचनाएँ प्रारंभ कीं, कहीं दो छंदों का मिलाकर तीसरा बना लिया । 'इन्द्रवज्रा' और 'वशस्थ विलम्ब' को मिलाने का उदाहरण मैं छन्द प्रकरण के अंतर्गत दे चुका हूँ ।

पल सी का युद्ध में प्रयुक्त छन्द है—

“आवीरात हा रही है मौन महीतल है
सघन घनों से घिरा घोर नभस्थल है
करके विदीर्ण उसे नाग ज्यों करे कला
रह रह कर कौवती है चला चचला !”

पन्द्रह अक्षरों के इस छन्द का प्रयोग तुलसीदास ने भी किया था—

“देखि ! द्वै पथिक गोर साँवरे सुभग हैं
सुतिय सलोनी सग सोहत सुभग हैं
सोभा निधु संभव से नीके नीके मग हैं
मातु पिता भागे बस गए परि फग है !”

इस बीच हिन्दा कविता में अतुकात का प्रभाव लक्षित हुआ। पत ने पोषणा की—

“खुल पड़े छन्द के विधे
प्रास के रजत प्राश
अथ भीत मुक्त
ओ, युगवाणी बहती अयास ।”

तो गुप्त जी ने इस प्रवृत्ति की ओर भी कदम बढ़ाए। ‘मचनाद बध’ के अनुवाद में अतुकात पद्य का व्यवहार किया। ‘सिद्धराज’ पूर्णतः अतुकात छन्द में लिखा और ‘यराधरा’ के बीच-बीच में भी अतुकात छन्दों का विधान किया।

“एक पुत्री वह भी पराई हुई अत में
व्यग्र सिद्धराज विजयार्थ गया घर से
जाय कहीं, आगे चलती थी जय उसके
सिंधु-सकता भी फली मालव-सी उपको
किंतु वही सिंधुराज आया जब सामने
चौंका वह देख उसे, एक आह निकली
रानक की आकृति का ध्यान आश सहसा,
सोज अरि बधन स्वयं ही उठ खसने !”

अनुकांत प्रयोग चञ्चल पड़ने पर भी गुप्त जी ने एक बात और लक्षित की। लोग अधिकतर तुकांत कविता ही रचिकर मानते हैं। अनुकांत कविता में सगीता-रसकता, प्रवाहात्मकता आने पर भी प्रायः जनरचित तुकांत की ओर झुकते हैं। इस दृष्टिकोण से उन्होंने फिर तुलान छन्द का प्रयोग आरम्भ कर दिया। छायावाद-प्रगतिवाद के बाद आज हिन्दी कविता पुनः तुकांत की ओर बढ़ रही है। 'द्वितीय 'तारसप्तक' में समग्रहीत अंतिम कविताएँ इसका प्रमाण हैं।

तो गुप्त जी ने छन्दों के प्रयोग में भी प्रतिनिधित्व किया। उनकी कविता अनेक गुणों के अतिरिक्त उपयुक्त छन्द निर्वाचन से भी सफल हुई। पुराने छंदों को नवीन रूप देना, नवीन छन्दों का विधान करना जन-रचित के कारण ही लिया गया। उपयुक्त भाव और उपयुक्त छन्द-गुप्त जी की सफलता के दो मुख्य कारण हैं।

इस प्रकार गुप्त जी ने अपने समय की जनता का पूरा-पूरा साथ देकर, केवल उसी के भावों की अभिव्यक्ति नहीं की, प्राचीन भारतीय संस्कृति का भी उद्घोष किया। शृंगार, करुण, वीर रसों का तो उनकी रचनाओं में पूर्ण परिपाक हुआ ही है, अन्य भावों की भाव व्यञ्जना की है। प्रचलित सभी काव्य विषयों पर लिखा है। महत् चरित्र जहाँ भा मिला उन्होंने स्वीकार कर लिया। वह चाहे हसन-हुसैन हो या कोई सिक्ख गुरु। भाषा में भी सब पद्धतियों का समाहार किया। छंदों में उनका प्रतिनिधित्व स्पष्ट है और काव्य शैलियों की दृष्टि से भी उन्होंने प्रबंध काव्य, मुक्तक काव्य, गीत काव्य-सभी को अपना लिया। अलग-अलग ही नहीं, एक ही काव्य तक में सब प्रसार मिला दिए। 'यशोधरा' की भूमिका में वे अपने भाई को लिखते हैं—“मेरी शक्ति का विचार किए बिना ही मुझसे ऐसे ही अनुरोध किया करते हो ! कविता लिखो, गीत लिखो, नाटक लिखो ! अच्छी बात है ! लो कविता, लो गीत, लो नाटक और गद्य-पद्य, तुकांत, अनुकांत सभी कुछ, परन्तु वास्तव में कुछ भी नहीं !”

इस प्रकार भाषा, भाव, शैली तथा छंद रचना पर विचार करने से हम निस्संकोच कह सकते हैं कि गुप्त जी अपने समय के प्रतिनिधि कवि हैं। इस सम्बन्ध में आचार्य रामचन्द्र शुक्ल का मत भी दृष्टव्य है।

“गुप्त जी का प्रतिभा की सबसे बड़ी विशेषता है कालानुसरण की क्षमता अर्थात् उत्तरोत्तर बदलती हुई भावनाओं और काव्य प्रणालियों को ग्रहण करते चलने की शक्ति। इस दृष्टि से हिन्दी भाषी जनता के प्रतिनिधि कवि ये निस्संदेह कहे जा सकते हैं। भारतेन्दु के समय से स्वदेश प्रेम की भावना जिस रूप में चली आ रही थी उसका विकास ‘भात भारती’ में मिलता है। इधर के राजनीतिक आंदोलनों ने जो रूप धारण किया उसका पूरा-पूरा आभास पिछली रचनाओं में मिलता है। सत्याग्रह, अहिंसा, मनुष्यत्ववाद, विश्वप्रेम, किसानों और श्रमजीवियों के प्रति प्रेम और सम्मान सबकी झलक हम पाते हैं।” †

“पार उतरना है तो तर
नारायण हो मेरे नर !

यहाँ बसी का स्नेह फला
जो दीपक सा सजल जला
यों सब का निर्माण भला

अंतर से ही अंतर भर...

बंधन जीव नियम रहे
भव न वहे सौ विभव वहैं
दुःख भले, हम जिन्हे सहैं

बिचर जहाँ निर्वेह बिचर
नारायण हो मेरे नर ।”

हिन्दी काव्य में स्थान

गुप्त जी का कई दृष्टियों से आधुनिक हिंदी कविता में महत्वपूर्ण स्थान है। पिछले अध्यायों में जिनका कुछ विवेचन मैं कर चुका हूँ। समग्र रूप से देख लेना है। यह विचार काव्य की दृष्टि से भी करना है और निर्माण की दृष्टि से भी। भारतेन्दु का वास्तविक महत्व परिवर्तन उपस्थित करने में था, काव्यगत सौष्ठव की दृष्टि से उतना नहीं। महावीर प्रसाद द्विवेदी का महत्व भाषा का संस्कार करने में, साहित्य भण्डार बढ़ाने में है। वे तो उपयुक्त शिलान्यास कर रहे थे—वही उनका महत्व है। गुप्त जी उनकी परंपरा में होने पर भी आगे बढ़ते गए, प्रत्येक नवीन प्रवृत्ति को आत्मसाथ करते गए। भावों की उच्चता के साथ उन्होंने अभिव्यक्ति का माध्यम भी सशक्त बनाया और लोक कल्याण पर निरंतर दृष्टि रखी इसलिए उनका महत्व है।

१ संस्कृति उत्थान की दृष्टि से—यह महत्व है कि उन्होंने राष्ट्रीय जागरण का संदेश दिया। अतीत से लेकर वर्तमान समय तक का देशकाल रचनाओं द्वारा प्रस्तुत किया। वे निरंतर उच्च आदर्शों का संदेश देकर, कुप्रवृत्तियों का तिरस्कार कर संगठित समाज बनाने में लगे रहे। उनका कवि जीवन वस्तु स्थिति की उपेक्षा कर अपने निराले गीत गाने में नहीं बीता। अपनी कविता को उन्होंने जन साधारण की भावाभिव्यक्ति का साधन बनाया। अपनी राष्ट्रीय भावना तथा राम भक्ति का समन्वय कर दिया—

“राम, तुम्हें यह देश न भूले

धाम-धरातल जाय भले ही

यह अपना उद्देश्य न भूले
 निज भाषा निज भाव न भूले !
 प्रभो, तुम्हे भी सिन्धुपार से
 सीता का सन्देश न भूले !'

उनकी वैष्णवता राष्ट्रीयता से मिश्र नहीं रही। अपने राम को भी वे सांस्कृतिक उत्थान में आदश व्यक्ति की तरह ले आये। यह समय अवतारवाद पर विश्वास करने का नहीं था तो ईश्वर का महा मानव के रूप में प्रतिष्ठित कर दिया। 'कुण्डल गीत' में विश्व बंधुत्व, मैत्री, करुणा का आदश इसी उत्थान के लिये गुनः समने रखा।

द्विवेदी युग प्रधानतः आदोलनो, सुधारमूलक उपदेशों का युग था। आचार-विचार, मर्यादा व्रणश्रम के अनेक विधि निषेध थे। ठीक इसका प्रतिक्रिया में कुछ कवि निबन्ध, अस्त्रम प्रधान और सबसे मिल-जुल कर चलने वाली सस्कृति का रूप व्यवत करने लगे। गुप्त जी ने दोनों दृष्टिकोणों का मध्यवर्ती मार्ग अपना कर नया जीवन दर्शन प्रस्तुत किया जो वस्तुतः था तो प्राचीन भारतीय जीवन दर्शन ही लेकिन वर्तमान परिस्थितियों के अनुकूल था। उन्होंने कौटुम्बिक, नैतिक आदर्श अपनी रचनाओं में प्रतिष्ठित किए—सारे राष्ट्र को कर्म के लिए प्रेरित किया। साहस, करुणा, मैत्री, बलिदान द्वारा नवीन सामाजिक सस्कृति का संदेश दिया। उनका एक-एक पात्र जीवन कर्म में प्रवृत्त है, निष्क्रिय होकर विघ्न-बाधाओं से डरता हुआ भाग नहीं जाता। त्यागी-वैरागियों पर यह फटकार है—

“त्याग त्याग करते हैं हम सब
 क्या है किन्तु हमारे पास
 छिना सभी तो धाम-धरा-धन
 त्याग नहीं वह त्यागभास !

‘रपट पड़े हर की गंगा’ में
 मिट सकता है क्या उपहास ?

घर में तो वे भी स्वतंत्र हैं
जो हैं सदा पराये दास !”

१ स्वतंत्र उपदेश देते हैं—

“नर हो न निराश करो मन को !
यह जन्म हुआ किस हेतु अहो
समझो जिससे यह व्यर्थ न हो !”

x

x

x

“विचार लो कि मर्त्य हो न मृत्यु से डरो कभी
मरो परंतु यों मरो कि याद जो करें सभी !
हुई न यों सुमृत्यु तो वृथा मरे, वृथा जिए
मरा नहीं वही कि जो मरा न आपके लिए !
यही पशु प्रवृत्ति है कि आप आप ही चरे
वही मनुष्य है कि जो मनुष्य के लिए मरे !”

यहाँ तक कि उनके ‘नहुष’, ‘दिवोदास, जैसे पात्र एकांत व्यक्तिगत उन्नति भी नहीं चाहते। मनुष्य के मोतर दैवी आसुरी दोनों प्रवृत्तियाँ हांती हैं, कभी एक पक्ष प्रबल होता है, कभी दूसरा। दैवी पक्ष के जाग उठने पर ही मनुष्य देव स्वरूप हो जाता है। यह बिल्कुल व्यावहारिक उत्थान का आदर्श है। यदि नहुष कहता है—

“ठठना मुझे ही नहीं एक मात्र रीते हाथ
मेरी देवता भी और ऊँचा उठे मेरे साथ”—

तो ‘दिवोदास’ का रिपुजय सोचता है—

“नहीं मंत्र दृष्टा मैं फिर भी प्रिय है सबको शोष
हुआ मुझे अपनी समाधि में असंदिग्ध यह बोध !
निज मर्यादा पुरुषोत्तम ही मानव का आदर्श
नहीं और कोई कर पाता मेरा हृदय-स्पर्श !”

साँस्कृतिक उत्थान की चेष्टा अनेक सुधारकों-लेखकों ने की पर गुप्त जी का प्रयत्न सबसे अधिक व्यापक तथा प्रभावपूर्ण हुआ। तत्कालीन राजनीति में गांधी जी काम कर रहे थे, साहित्य में वही गुप्त जी। गांधीवादी दर्शन की सबसे पूर्ण व्याख्या उन्हीं की रचनाओं द्वारा हुई।

२ समन्वय की दृष्टि से—(१) प्रत्येक भावना, भाषा शैली को आत्मसात करने वाला गुप्त जी के समान हिंदी का दूसरा कवि नहीं। साहित्य में ही भारतेन्दु कालीन प्रवृत्तियों से लेकर आज तक की विचारधाराओं को उन्होंने काव्य में स्थान दिया है। फिर भी किसी विशेष संप्रदाय या वाद से गुप्त जी बंधे हुए नहीं। जो विशेषता, आदर्श उन्हें कहीं भी दिखाई दिए जिनको उन्होंने भारतीय परंपरा के अनुकूल समझा, उनको निस्संकोच स्वीकार कर लिया। चाहे वह काव्य पद्धति हो या कोई जीवन वर्णन हो! सामने जो तथ्य है उसे स्वकार करना चाहिए, अन्तर्लोक को सधना व्यर्थ शक्ति का अपव्यय है।

काव्य में जो त्रुटियाँ थी गुप्त जी ने दूर करने का प्रयत्न किया। द्विवेदी-युगीन कविता विशुद्ध वर्णनात्मक थी, कल्पना की छुटा तो नहीं के बराबर थी। कोई कवि ब्रजभाषा को ही सर्वश्रेष्ठ आपन देना चाहता था तो 'सनेही' जैसे उनका उपहास कर रहे थे—

“मां भारती तुम्हारा चलन देख देख कर
नव नायिका से नित्य जगत देख देख कर
परकीया म लगा हुआ मन देख देख कर
उत्तड़ा हुआ स्वदेश का बन देख देख कर
आकुल अजल धार से आंसू बहा रही
होकर अधीर धैर्य भवन है ढहा रही !”

दूसरी ओर छायावादी कवि कल्पना भी मुक्त राइन भर रही थे, वे अंतुर्मुख होकर भावों के आकाश में विचरण कर रहे थे। गुप्त जी ने दोनों दृष्टियों का समन्वय किया। एक ही रचना में यदि ऐसी सगंध भाषा मिलती है—

“छड़ी न थी बाबू लोगों की, मेरा मोटा डडा था
और उन्हीं के श्री शब्दों में, मैं भी कुछ मुस्तंडा था
पोले का लोहा हिंसक के दढ़ मस्तक में पैठ गया
रह छलाग अधूरी, तत्क्षण वह नीचे ही बैठ गया !”

जो इसी भाषा में कल्पना प्रसृत यह विवरण भी है—

“भुके पयोद पकड़ने को हम कभी पहाड़ों पर चढ़ते
कभी तैरते हुये होड़ से पानी में आगे बढ़ते !
मानो स्वयं प्रकृति भी फिरती हमें गोद में लिये हुये
खगता, मृगता और मंजुता तीनों के गुण दिये हुये !
मोर्ग नाचते थे उपंग से मेघ मृदंग बजाते थे,
कायल के सहयोगी होकर चचल चातक गाते थे
रस बरसाती हुई घटा भी नीचे उतरी आती थी
प्रकृति नटी निज पट पल पल में प्रकट पलटती जाती थी !”

(किसान)

अन्तिम पंक्तियां श्रीधर पाठक की इन पंक्तियों से मिलती हैं ।

“प्रकृति यहाँ एकांत बैठि निज रूप सँवारति ।

पल-पल पलटति वेष, छनिक आनन्द उर धारति !”

पावो के सौन्दर्य वर्णन में भी गुप्त जी ने मध्यवर्ती मार्ग अपनाया । नारी सौन्दर्य मैं जित्त चुका हूँ, गुण प्रधान है । हाँ, पुरुष की शारीरिक गठन भाव भंगियों का चित्रण है । यह प्रवृत्ति एक ओर तो रीति कलीन प्रवृत्ति से भिन्न थी, एक और काव्य में प्रचलित अमूर्त नारी चित्रण से जिसका विधान रहस्यवादी ईश्वर के रूप में रहा था । पुरुष चरित्रों में धनुर्धर लक्ष्मण, सिद्धराज जयसिंह आदि के चित्र तथा नारी चरित्रों में रानकदे, सीता के चित्र दिए जा चुके हैं । ‘पंचवटी’ से राम का एक चित्र और देखिए—

“तरु तले विराजे हुए, सिला के ऊपर
कुछ टिके, धनुष की कोटि टेभूक कर पर

निज लक्ष सिद्धि सी, तनिक घूम कर तिरछे
जो सींच रही थीं पर्णकुटी के बिरछे—
उन सीता को निज मूर्तिमयी माया को
प्रणय प्राण को, और कांत काया को
यों देख रहे थे राम अटल अनुरागी
योगी के आगे अलख-ज्योति ज्यों जागी !”

गुप्त जी ने मानव जीवन, समाज, राजनीति, धर्म—सभी क्षेत्रों में एक समन्वयपूर्ण मार्ग प्रदर्शित किया। एक साथ इतने विभिन्न क्षेत्रों पर दृष्टि रखने से भी उनका हिन्दी में विशेष महत्व है।

३. प्रतिनिधित्व की दृष्टि से—○ “सच तो यह है कि पिछले ४० वर्ष की दीर्घकालीन काव्य साधना में गुप्त जी ने हिन्दू धर्म के इतिहास और पुराण के अनेक नए संस्करण उपलब्धित किए हैं। उनमें पुराना बहुत है, परन्तु नया भी कम नहीं है। यह आश्चर्य की बात है कि वे राम प्राण और पुराण प्रिय होते हुए भी पौराणिक कथाओं को बराबर नया वैज्ञानिक और तर्क पुष्ट रूप देते रहे हैं। नई छायावादी धारा का प्रवर्तन १९०७ के लगभग ही हो गया था (मैरा इससे मतभेद है) परन्तु उसने १९१६ के बाद ही विशेष बल प्राप्त किया। ‘भकार’ (१९२६) की रचनाओं और ‘यशोधरा’ (१९३३), ‘द्राप’ (१९३६) और ‘कुणाल गीत’ (१९४२) पर इस नई काव्य धारा द्वारा प्रचारित और घोषित अनेक प्रवृत्तियों को गुप्त जी ने आत्मसात् कर लिया है.....

“यही कारण है कि हमारे पिछले चासीस वर्ष की कविता का प्रतिनिधित्व मैथिलीशरण करते हैं।.....जिस प्रकार प्रेमचन्द की रचनाओं में हमें भारत के राष्ट्रीय और सामाजिक आंदोलनों के चित्र मिलते हैं और हम उनमें एक बदलते हुए राष्ट्र का स्पर्दन पाते हैं, उसी प्रकार गुप्त जी की कविता में पिछले चासीस वर्षों के भारतवर्ष का हृदय बोल रहा है.....इस कवि की कुछ अपनी सीमाएँ हैं जो कुछ तो देशकाल और परिस्थिति की उपज हैं और कुछ उसने

स्वयं निर्धारित कर ली हैं, वह अपने युग को छोड़कर और आगे बढ़ाना नहीं चाहता। 'द्वापर' में उसने लिखा—

अपने युग को हीन समझना
 आत्महीनता होगी
 सजग रहो इससे दुर्बलता
 और दीनता होगी !
 जिस युग में हम हुए, वही तो
 अपने लिए बड़ा है
 अहा, हमारे आगे कितना,
 कर्मक्षेत्र पड़ा है !
 हीन गया है काल कौन सा ?
 क्या घन मन्द नहीं अब ?
 सायं प्रातः, रात दिन ऋतुएँ
 या रवि चन्द्र नहीं अब ?
 सबधान ! युग के अधर्म को
 हम युग धर्म न समझें !
 कर्म नहीं हम पतित आप
 यदि उनका मर्म न समझें !” x

आधुनिक समय में कला के उद्देश्य पर एक नवीन समस्या उठ खड़ी हुई। कला का प्रयोजन कुछ माना जाय या उसका आनन्द उसी के लिए है ? गुप्त जी ने इसका विस्तृत विवेचन भी किया है। जब उनके काव्य गुरु कविता को लोक-हिताय मानते थे तब वे क्यों न मानते ! इस समस्या का उल्लेख, गुप्त जी का अपना दृष्टिकोण 'साकेत', 'सिद्धराज' तक मिल जागा। ‡

x 'मैथिलीशरण गुप्त' — भटनागर

‡ देखिए अध्याय ६— 'काव्य कला का उद्देश्य

तो प्रतिनिधित्व की दृष्टि से भी गुप्त जी का स्थान महत्वपूर्ण है। जो आलोचक उन्हें प्रतिनिधि नहीं मानते वे भी उनका सर्वाधिक महत्व अवश्य स्वीकार करते हैं।^१.....एक ज्ञान तो सब तरह के विवाद और तर्क से परे है—गुप्त जी वर्तमान काल के सबसे अधिक लोकप्रिय कवि हैं। वर्तमान काल में जो अनेक शैलियों साहित्य सृजन के क्षेत्र में प्रचलित हैं, प्रायः उन सभी में उन्होंने साहित्यिक प्रयोग किए हैं! प्राचीन विचार के साहित्य सेवी उनकी रचनाओं में मंगलाचरण आदि के समावेश के रूप में अपनी प्रिय वस्तु पा जाते हैं, द्विवेदी स्कूल के कवि उन्हें प्रायः अपने नेता के रूप में ग्रहण करते हैं; छायावादी कवि भी उनमें अपने अनुकूल कुछ विशेषताएँ और प्रवृत्तियाँ ढूँढ लेते हैं। इस प्रकार वर्तमान समय के सभी दलों को, अत्याधिक यात्रा में उनसे सतोष प्राप्त हो जाता है। साहित्य सेवियों की मण्डली को छोड़कर अगर पाठकों की मण्डली की ओर चले तो यह निर्विवाद रूप से कहा जा सकता है कि पाठकों की जितनी बड़ी संख्या उन्हें प्राप्त है, उतनी बड़ी संख्या प्राप्त करने को सौभाग्य अन्य किसी भी जीवित हिन्दी कवि को उपलब्ध नहीं है।^२†

डा० श्याम सुन्दरदास ने उनको प्रतिनिधि कवि ही माना है—“बाबू मैथिली शरण गुप्त आधुनिक खड़ी बोली के सब से प्रसिद्ध और प्रतिनिधि कवि हैं...भाषा की दृष्टि से उनका मध्यम मार्ग ही कहा जायगा...गुप्त जी का आधुनिक समय का प्रतिनिधि कवि होना इसी बात से सिद्ध होता है कि उनकी छायावाद के ढंग की रचनाएँ भी उस श्रेणी के कवियों की प्रशंसा पा चुकी हैं। गुप्त जी की कविता में कहीं भी कृत्रिमता नहीं देख पड़ती”*

स्वतन्त्रता के उपरांत राष्ट्र का प्रतिनिधित्व करते हुए वे आज भी राष्ट्रीय पताका की बदना करते हैं—

यह पुण्य पताका फहरे

मुक्त वायु मण्डल में अपनी मानम लहरी लहरे!

† गिरिजादत्त शुक्ल ‘गिरीश’

* ‘हिन्दी साहित्य’—श्यामसुन्दरदास

इस ध्वज पर जूमे स्वजनों का ध्यान जहाँ जाता है
मस्तक ऊँचा होने पर भी मन भर भर आता है
निर्भय मृगु वरण कर ही नर अमर कीर्ति पाता है
ऐसे पुत्रों की ही आशा रखती भू माता है
भू माता का यह अचल पर छाया करके छहरे

यह पुण्य पताका फहरे !”

४ भाषा संस्कार की दृष्टि से—“मैथिली शरण गुप्त ने मग से पहला
और मग से बड़ा काम भाषा को निरंतर निवारने का किया है। प्राचीन साहित्य
में अवधी भाषा में तुलसी की रामायण, सूफियों के प्रेम काव्य के और रहीम के
बगै ही लिखे गए, नहीं तो पूरे भक्ति-काल और रीति-काल में व्रज भाषा का
ही बोलवाला रहा। परिणाम यह हुआ कि जब खड़ी बोली में कविता प्रारंभ हुई
तो व्रजभाषा के रसिकों ने शोर मचाया कि खड़ी बोली में कविता हो ही नहीं सकती
और यदि हो सकती है तो उसमें वह माधुर्य नहीं आ सकता जो व्रजभाषा में है।
ऐसे स्थिति में मैथिली शरण गुप्त की महत्ता आँकिए। इस काल के अन्य
कवियों जैसे प्रसाद, महादेवी, निराला, पंत और बच्चन ने मैथिली शरण जी के
उपरात लिखना आरंभ किया है। गुप्त जी से पूर्व काल के जो कवि हैं उनकी भाषा
या तो खड़ी है या उसमें व्याकरण की अशुद्धियाँ भरी हुई हैं। आज हम जिस
खड़ी बोली का प्रयोग करते हैं वह एकसाली हो गई है। उसमें जो सरसता, जो
मधुरता, जो कोमलता और जो शक्ति है वह हिन्दी के अनेक साधकों के प्रयत्न
का फल है और इसमें सन्देह नहीं कि भाषा के इस परिमार्जन में मैथिलीशरण
गुप्त ने बड़ा परिश्रम किया है। मौलिक ग्रंथ देने से पूर्व ही गुप्त जी ने बँगला,
फारसी और संस्कृत के कुछ प्रसिद्ध ग्रंथों के अनुवाद किए थे, अतः उनकी भाषा
में और भी निखार आ गया, उनकी शैली में और भी प्रवाह। मैथिली शरण जी
के काव्य में कहीं व्याकरण की अशुद्धि नहीं मिलेगी, कहीं लुप्तोभग नहीं मिलेगा,

कहीं दुरुहता नहीं मिलेगी। इस प्रकार मैथिली शरण जी भाषा प्रयोक्ता ही नहीं उसके निर्माता भी है।” ४

ध्यान देने योग्य बात यह है कि स्वयं गुप्त जी की उत्तरोत्तर विकसित भाषा से खड़ी बोली का विकास, समृद्धि मालूम हो जाता है। अर्थात् व्यक्ति की भाषा संपूर्ण काव्य भाषा का विकास प्रस्तुत करती है। हिन्दी में ऐसा तो अन्य किसी कवि की भाषा से नहीं झलकता।

(१) सन् १९०६ में उनकी कविता का स्वरूप है—

ज्योहीं उद्गम पद्मराग सम है विवोष्ठ शोभा भलो
श्री सयुक्त सुवर्ण वह यों है ठीक रत्नावली
राजा के सुन बन यों वह हुई रामाचिता स्थम्भिता
लज्जा संकुचिता प्रकपित तथा स्वेदांबु-संशामिता !”
(सरस्वती)

(२) सन् १९१४ की कविता का स्वरूप है—

मेरा वह नयनाभिराम वर वज्रयंत सा धाम कहौं
कल्प लता कुंजों से शोभित दिव्य नदनाराम जहाँ
हाय विधाता ! दैत्य दम्यु मय करते हैं विश्राम यहाँ
और रुदन भी कठिन हुआ है हमको आठौंयाम यहाँ
(तिलोत्तमा)

(३) सन् १९१६ की भाषा लीजिये —

“मैं कैसा ही रहा हूँ इस अवसर में घोर आश्चर्य लीन
देखा है आज मैंने अचल चल हुआ, सिंधु संस्थाविहीन !
देखा है, क्या कहूँ मैं, निपतित नभ से इन्द्र का आज छत्र
देखा है और भी, हाँ, अकबर-कर में आपका संधि-पत्र !”
(पद्मावली)

(४) १६२५ में भाषा का उदाहरण लीजिये—

उसी समय पौ फटी पूर्व म पलटा प्रकृति नटी का रंग
किरण कटकों से श्यामांकर फटा दिवा के दमके अंग
कुछ कुछ अरुण, सुनहली कुछ कुछ, प्राची की अव भूषा थी
पंचवटी की कुटी खोल कर खड़ी स्वयं क्या ऊषा थी ?”
(पंचवटी)

(५) सन् १६३२ में भाषा का यह रूप ही गया—

“मेरे चपल यौवन-बाल
अचल अचल में पड़ा सो, मचल कर मत साल !
बीतने दे रात, होगा सुप्रभाव विशाल
खेलना फिर खेल मन के, पहन के माणी माल !
पक रहे हैं भाग्य-फल तेरे सुगम्य रसाल
डर न, अवसर आ रहा है, जा रहा है काल !
मन पुजारी और तन इस दुःखिनी का थाल
भेंट प्रिय के हेतु उसमें एक ही तू लाल !”
(साकेत)

(६) सन् १६३६ में भाषा और सरल, मँज्रा हुई हो गई —

“लौट गया दूत एक तीव्र तप्त भोके-सा
गाने लगे बन्दी जन, लोहा बजने लगा
और रण चण्डी निज नृत्य करने लगी
बह उठी राग-रस धारा मग्न हो उठी
तन, मन और धन वार कर बीरता !
रंग जमा ऐसा— दिन, मास तथा वर्ष भी
एक पर एक इसी भांति गत हो गए
किंतु उस गति की न टूटी ताल तब भी !
एक लय देख देख अचरज हो उठा !”
(सिद्धराज)

(७) सन् १९४२ की भाषा भी देख लीजिए—

“आगे यह मुक्त बात, स्वागतार्थ आया

मृग-मयूर, पेड़-पत्र

नाच रहे, यत्र-तत्र

फैल गया सांध्य-राग, गीत गया माया ।”

तो पिछली चालास वर्षों में खड़ी बोली भाषा का निखार भी गुप्त जी की रचनाओं से स्पष्ट होता है ।

५. साहित्य-निर्माण की दृष्टि से—गुप्त जी ने लगभग ३४ पुस्तकें लिखी हैं जिनमें ‘भारत भारती’ के २४ तक संस्करण हो चुके हैं ! प्रमुख रचना कोई भी ऐसी नहीं जिसके पांच छः संस्कार न हो चुके हैं ! १२-१३ तो उत्कृष्ट प्रबंध काव्य हैं । ‘साकेत’ महाकाव्य रामभक्ति की परंपरा में ‘रामचरित मानस’ के बाद ही आता है । अनेक छंदों-रसों का बहुमुखी योग उनमें मिलेगा जिनका विवेचन में करता आया हूँ । उर्मिल, और यशोधरा जैसे नारी पात्र दिए हैं जिनके रस मय उनके आराध्य देवताओं को आना पड़ा । ‘नहुष’ तो पतन के उपरान्त भी उत्थान का दृढ़ निश्चय प्रकट करता है । संपूर्ण मानव जाति को यह संदेश दिया गया है कि वह उठ भी सकता है । इस पृथ्वी तल को ही स्वर्ग तुल्य बना सकता है । किसी भी हिन्दी कवि ने पिछले ५० वर्षों में इतना ठोस आशावादी सिद्धांत नहीं दिया ।

उनका वास्तविक स्थान समझने के लिए जग अन्ध कवियों को भी देख लिया जाय । ‘हरिऔध’ ने साहित्य में ‘प्रियप्रवास,’ ‘वैदेही वनवास’ जैसी उत्तम कृतियों की अवश्य पर छन्द-भाषा के प्रयोग अधिक सफलता न दे सके । वैसे ‘हरिऔध’ का भाषा पर जबरदस्त अधिकार था, कठिन से कठिन भाषा—“रूपो ध्यान प्रफुल्ल प्राय कलिका राकेन्दु विवानना”—से लेकर ।

“चार डग हमने भरे तो क्या किया
है पड़ा मैदान कोसों का अभी

मौलवो ऐसा न होगा एक भी
जो न हावे खूब उर्दू जानता !

इतनी सरल भाषा भी वे लिख सकते थे। भगवान् श्रीकृष्ण को भी उन्होंने आकर्ष मानव का रूप दिया, राधा का स्वरूप परिवर्तन किया, फिर भी अपनी सीमाओं से वे बंधे रहे। छन्दों में उर्दू बहरो का प्रयोग कर भी निश्चित रूप निर्धारण न कर सके। उनकी राधा, कृष्ण की तुलना गुप्त जी के उर्मिला-राम - पात्रों से की अवश्य जा सकता है लेकिन गुप्त जी का कार्य-क्षेत्र अधिक व्यापक रहा। जनसाधारण ने उन्हें को महत्व भी अधिक दिया।

जहाँ तक छायावादी कविय का सम्बन्ध है वे समाज का प्रतिनिधित्व नहीं करते। उनकी भक्ति-धर्म भावना का स्वरूप भी जनता का धर्म नहीं था। वे अवश्य, परीक्षा सत्ता की खोज तथा मधुर मिलन की सासना कर रहे थे और सामान्य जनता से दूर-दूर ही रहते थे। हिन्दी कविता में उन्होंने अभूत-पूर्व नवीनता अवश्य उत्पन्न की, लेकिन उसको मैं बहुत सीमा तक पश्चिम का प्रभाव मानता हूँ। उनकी युक्त उड़ान वस्तुतः भारतीय धरतों पर नहीं है अतः कोई आश्चर्य की बात नहीं कि वे गुप्त जी की भाँति जनप्रिय न हो सके।

प्रसाद ने अद्भुत, देवसेता जैसे गत्रों की। सृष्टि की भाँति अभिव्यंजना बढ़ाई और कुछ हिन्दी को दिया। वे छायावादी कविता के प्रतिनिधि कवि हो सकते हैं पर गुप्त जी का क्षेत्र उनसे बिलकुल ही पृथक् है। और पंत, निराला, महादेवी की अनुभूति पद्यति को गुप्त जी ने समझने का प्रयत्न किया है। निराला का यह अद्वैत—

“तुम तुम हिमालय शृंग
ओर मैं चंचल गति सुर-सरिता
तुम विमल हृदय उच्छ्वास,
और मे कान्त कामिनी कविता ! ...
तुम प्राण और मैं कावा

तुम शुद्ध सच्चिदानंद ब्रह्म
मैं मनोमोहनी माया ! ...”

गुप्त जी की इस कवित में मिल जाएगा —

“जब भी एक प्रश्न था — ‘कोह’

कहूँ कहूँ जब तक—दासोहं

तन्मयता कह उठी कि—‘सोहं’

बस हो गया सवेरा

दिनमणि के ऊपर उसकी ही

किरणों का है घेरा !”

प्रशादजी ने लिखा था—

“अरुण किरण सम कर सेछू लो

खोलो प्रियतम खोलो द्वार ! ”

तो गुप्त जी

“आया वह दीन आज

चरण चरण आया ! ”

की चर्चा करते हैं।

महादेवी कहती हैं—

नहीं अब गाया जाता देव

थकी अगुँली हैं, ढीले तार

विश्व वीणा में अपनी आज

मिला लो मेरी भी भंकार !”

तो गुप्तजी —‘विराट वीणा’ में उसी की चर्चा करते हैं —

“तुम्हारी वीणा है अनमोल ! ”

जो माधुर्य, संगीत, कसकती वेदना, टीस, निरंतर साधना इन छायावादी कविगणों की है गुप्तजी ने ‘यशोधरा,’ ‘उर्मिला’ के प्रसंगों में उनका भी विधान कर दिया है। अंतर इतना ही है कि ये स्वछंद अपनी विरह-व्यथा कह चले

हैं तो गुप्तजी ने प्रबन्ध काव्य के अन्तर्गत उसका विधान किया है। यह नतनता ही नहीं कवि कर्म की कसौटी भी है। सीमित क्षेत्र, पात्रों से सब तत्वों की व्याख्या शक्तिशाली या रससिद्ध कवि ही कर सकता है। इस प्रकार गुप्तजी महाकवि भी सिद्ध होते हैं ! केशवदास 'रामचन्द्रिका' लिखने के उपरान्त भी संभवतः महाकवि न कहे जा सकें—जब कि राम का चरित काव्य उनके सामने भी था—लेकिन गुप्तजी 'साकेत' जब कभी लिखते तब भी महान् कवि माने ही जाते।

यद्य के क्षेत्र में तो गुप्तजी इस समय उच्च शिखर पर आसीन हैं ही, गद्य के क्षेत्र में तुलना यदि की जा सके तो प्रेमचन्द से ही उनकी तुलना की जा सकती है। दोनों का दृष्टिकोण, वस्तु वर्णन, आदर्श स्थापना प्रायः एक सी है। हां, प्रेमचन्द बाद में विशुद्ध यथार्थ की अंतर अधिक ढलने लगे थे, क्रांति—वह भी संशय क्रांति पर उनकी व्याख्या बढ़ती जा रही थी। “द्वापर” का एक पात्र नारद इस दृष्टिकोण को प्रस्तुत अवश्य करता है पर गुप्तजी का यह मान्य सिद्धांत नहीं है।

तो किसी भी दृष्टि से देखा जाय—संस्कृति की दृष्टि से, राष्ट्रीयता की दृष्टि से, समन्वय की दृष्टि से, भाषा की दृष्टि से या साहित्य की दृष्टि से गुप्तजी की पचास वर्ष की काव्य-साधना अपनी समानता नहीं रखती।



अध्याय १६

गुप्तजी के आलोचक

हिन्दी कविता में मैथिलीशरण गुप्त और गद्य में मुन्शी प्रेमचन्द—वस्तुतः ये दो ही लेखक हैं जिनकी रचनाओं से हम पिछले चालीस वर्ष का सामाजिक, राजनीतिक, धार्मिक व साहित्यिक क्रिया-प्रतिक्रिया का एक दर्शन कर सकते हैं। गुप्त जी ने एक ओर तो प्राचीन संस्कृति की झलक दिखाई, दूसरी ओर समय के अनुकूल प्रभाव भी सामने रखे। शुरू से आखीर तक उनकी रचनाएँ गंधीवादी से प्रेरित मिलेंगी। चूँकि वे सर्वाधिक जन-प्रिय कवि हैं-वहिक बहना चाहिये जन्ता के कवि हैं—और सबसे अधिक पाठक भी उन्हीं के हैं, उन पर आलोचनात्मक पुस्तकें भी निकली हैं। उनके महत्व देन को ध्यान में रखकर इन आलोचनाओं को पूर्ण-पथेष्ट तो नहीं माना जा सकता, फिर भी प्रवृत्तियों का सामान्य परिचय करा देती हैं। सिद्धान्तों पर आघातित ठोस आलोचना अभी देखने में नहीं आई।

प्रमुख आलोचनात्मक पुस्तकें हैं—

१. 'गुप्तजी की काव्य धारा'—गिरिजा दत्त शुक्ल 'गिरीश'
२. 'गुप्तजी के काव्य की कारण्य धारा'—प्रो० धर्मेन्द्र ब्रह्मचारी
३. 'मैथिलीशरण गुप्त'—सरस्वती पारख
४. 'गुप्त जी की कला'—डॉ० सत्येन्द्र
५. 'मैथिलीशरण गुप्त'—डॉ० रामरतन भटनागर
६. 'गुप्तजी की कृतियाँ'—श्याम नन्दन प्रसाद सिंह
७. 'साकेत' : एक अध्ययन'—डॉ० नगेन्द्र
८. 'गुप्तजी की यशोधरा'—कृष्ण कुमार सिंह
९. 'यशोधरा परिशीलन'—शिव स्वरूप गुप्त
१०. 'साकेत के नवम सर्ग का काव्य वैभव'—कन्दैयालाल सहल

ये पुस्तकें तीन तरह की हैं—(१) १, ३, ४, ५, ६, तो गुप्तजी की संपूर्ण रचनाओं का विश्लेषण करती हैं, (२) नंबर २ उनके साहित्य में दर्शित विशेष धारा का परिचय कराती हैं और (३) ७, ८, ९, १० गुप्त जी के जी न स्थूलतः परिचय प्रायः सन में हैं। इनमें कुछ की पयी लोचना कर ली जाय।

‘ गिरिश ’ ‘ गुप्त जी की काव्य धारा ’ प्रायः २६० पृष्ठों में गुप्त जी की रचनाओं का परिचय कराती हुई, सामाजिक २६ पृष्ठ भूमि देकर प्रवृत्तियों पर विचार करती है।

वस्तुतः इस पुस्तक में संतुलन की कमी है। ऐतिहासिक विवेचन अधिक किया गया है जिसके फल स्वरूप हुआ यह है कि मूल विषय की चर्चा होते होते अध्याय प्रायः समाप्त हो जाता है। पहला अध्याय पुस्तक में भी होता तो कोई हानि न थी शास्त्रीय पृष्ठ भूमि देते हुए आलोचक कुछ निष्कर्षों पर पहुँचा है जिनसे गुप्त जी के कार्य का महत्व मालूम हो जाता है।

‘ गुप्त जी के काव्य की करुण्य धारा ’ अधिक शास्त्रीय है। पृष्ठ भूमिका में तो लेखक ने गुप्त जी का दृष्टिकोण स्पष्ट करने का प्रयत्न किया है। अध्याय हैं। (१) गुप्त जी का व्यक्तित्व (२) खड़ी बोली के विकास में गुप्त जी का स्थान (३) गुप्त जी की कला में उपयोगितावाद (४) गुप्त जी की काव्य कला (५) गुप्त जी राष्ट्रीय कवि अथवा जातीय (३) गुप्त जी का समन्यवाद (७) गुप्त जी का प्रकृति पर्यवेक्षण (८) करुणा और करुण्य (९) पद्यरूप।

इस पृष्ठ भूमि में भी मुख्य त्रुटि यह है कि लेखक शास्त्रीय सिद्धान्तों के सुलभाव में अधिक व्यस्त रहा है गुप्त जी के आलोच्य साहित्य में कम। केवल ४ अध्याय ही ठोस विवेचन करता है जिससे गुप्त जी की रचनाओं का वर्गीकरण करते हुए (१) भाषा वस्तु (२) भाषा-विन्यास (३) भाषा सौष्ठव (४) रचना-शैली—इन चार शीर्षकों के अन्तर्गत गुप्त जी की काव्य-कला पर विचार किया गया है। खड़ी बोली के अध्याय में वह पूर्ण विकास दिखाते हुए गुप्त जी की चर्चा करता है। वह गुप्त जी को जातीय कवि मानता है। मैथिली शरण गुप्त में वह क्षमता नहीं कि वे वर्तमान युग का काव्य कलेवर खड़ा कर। अतीत के

अस्थि-पंजर में जान फूंकना और बात है, वर्तमान का जीवित चित्र अंकित करना और ।

मुख्य भाग कर्ण्य से सम्बन्ध है । लेखक का कहना है—प्रस्तुत निबन्ध में गुप्त जी के वाक्यों में जो कर्ण्य की धारा प्रभावित हो रही है, उसकी समीक्षा की जायगी । तब उसने प्रबन्ध काव्यों स्फुट काव्यों की, नाटकों तथा अनुवाद ग्रन्थों अलग अलग विवेचन करते हुए कर्ण्य की अन्त धीरा पर प्रकाश डाला है । इसमें जहाँ सामाजिक, धार्मिक, राजनीति दुर्दशा का संकेत है—वहाँ सांस्कृतिक देन को स्पष्ट करने का प्रयत्न भी है । गुप्त जी की सभी कृतियों का विवेचन आ गया है, हाँ कुणाल गीत और दिवोदास का उल्लेख नहीं है । अन्त में ६ चित्र देकर गुप्त जी की भाव चित्रावली भी प्रस्तुत की गई है । बीच में साँस्कृत अंग्रेजी उदाहरणों द्वारा साम्य तथा व्याख्या का प्रयत्न भी है । शैली गंभीर और संघत है । तर्क प्रणाली और उनके निष्कर्षों पर जीवन के गंभीर अध्ययन का प्रभाव लज्जित होता है ।

सरस्वती पारीख की पुस्तक 'मैथिली शरण गुप्त' छोटी होने पर भी व्यवस्थित है । पहले कवि, उसका युग, कृतियों, रूपान्तरकार, धार्मिक तथा जातीय या राष्ट्रीय कवि, नाटककार आदि का विवेचन है । तब मुक्तक, प्रबन्ध खण्ड, काव्य महाकाव्य का परिचय देकर अन्य पुस्तकों की सूक्ष्म चर्चा को है । संक्षेप में गुप्त जी की रचनाएं वर्णित हैं और कोई नवीनता नहीं है ।

डा० सत्येन्द्र की पुस्तक 'गुप्त जी की कला' १६० पृष्ठ की छोटी सी आलोचना है जिसके १५ अध्यायों में गुप्त जी की रचनाओं विशेषता पर प्रकाश डाला गया है (१) गुप्त जी की खड़ी बोली (२) गुप्त जी की कला (३) मैथिली-शरण के विषय (४) विषयों में दृष्टिकोण और विकास (५) गुप्त जी की पुरानी कविताएं (६) गुप्त जी की नई रचनाएं (७) गुप्त जी की काव्य शैलियां (८) गुप्त जी की शैली विशेषताएं (९) वस्तु विवेचन (१०) कथा वस्तु में उद्देश्य (११) कवि का जीवन संदेश (१२) धार्मिक अभिव्यक्ति (१३) स्त्रियों का स्थान (१४) गुप्त जी की कला का मर्म (१५) द्वार ।

वस्तुतः ये छोटे छोटे लेख समझीत किए मालूम पड़ते हैं । दूसरा तथा

अन्तिम अध्याय प्रायः आवश्यक है। द्वापर का विवेचन रचनाओं के साथ भी हो सकता था। वहीं उसकी नवीनता विशेषता दिखादी जाती, विवेचन सूक्ष्म है पर अध्यायों में सम्बन्ध नहीं है। कोई २ पृष्ठ में समाप्त हुआ है तो वस्तु विवेचन १५ पृष्ठों तक गया है। इस पुस्तक की विशेषता यह है कि एक तो ऐतिहासिक दृष्टि ने गुप्त जी की रचनाओं का मूल्यांकन किया है दूसरे समस्त रचनाओं में मूल भाव साम्य खोजने की चेष्टा की गई है। पात्रों पर नवीन मनो-वैज्ञानिक रूप से विवेचन भी किया है। कैकेई की मातृत्व में उसने वर्गदशा का नारी दर्शन देखा है जो शेरनी की तरह मानव जाति का शिकार कर रही है तो विधाता के चित्रण में उसे इव्सन के (Dolls House) की प्रतिध्वनि मिली है। उनकी आलोचना इस तरह की है द्वापर से पूर्व तक प्रबन्ध और प्रगीतिता के समन्वय की शैली को तो लिया पर (Objective) पदार्थिक दृष्टि का प्राधान्य रहा। यशोधरा में कथा सूत्रता की ओर इतना भी आप्रह नहीं रहा था जितना साकेत में था, निश्चय ही साकेत में भी कथा सूत्रता और कथा संयोजन की घनिष्ठता (compactness) को कवि ने विशेष महत्वपूर्ण नहीं समझा-भाव के लिए वस्तु की अवहेलना की क्षीण प्रवृत्ति साकेत में भी है, पर यशोधरा में वह और प्रबल हो उठी है-कथा क्रम तो बना हुआ पर सूत्रता (contiguity of story) का प्रभाव हो गया है। प्रगीतिता (Lyrical quality) बढ़ गई है पर वह भाव संयुक्त होते हुए भी, विरह विदिग्ध होते हुए भी मानसिक भाविकता (Mental subjectivity) तक नहीं पहुँच पाई-यही कारण है कि उसका रूप (संवाद) (Dialogues) का हो गया है।”

डा० रामरतन भटनागर ने अन्य कवियों के एक अध्ययन की तरह “मैथिली शरण गुप्त” पुस्तक लिखी है। है तो पूरे २२० पृष्ठों पर इतनी शीघ्रता से लिखी गई मालूम होती है कि वस्तु को ठीक ठीक अध्यायों में बाँटने का अवसर नहीं मिल सका। अध्याय हैं—(१) भूमिका द्विवेदी युग की कविता (२) मैथिली शरण गुप्त का काव्य: एक विश्लेषण (३) प्रारंभिक काव्य (४) प्रौढ़ रचना: हिंदू जातीयता का काव्य (५) भक्ता और मंगल घट (६) प्रौढ़ रचना महाकाव्य और खण्ड काव्य (७) परवर्ती रचनाएँ:

(८) गुप्त जी के काव्य का साहित्यिक मूल्यांकन ।

पुस्तक वस्तुतः परिचयात्मक है। आरम्भ में ७० पृष्ठों से भी अधिक पृष्ठ-भूमि द्विवेदी युग की काव्य-धारा का ऐतिहासिक परिचय तो अवश्य कराती है। पर शृंखला बद्ध नहीं है। गुप्तजी द्विवेदी युग के प्रतिनिधि कवि हैं इस पर एक साथ विचार न कर कई स्थानों पर विचार किया है। जब रचनाओं का तिथिक्रम एक स्थान पर दिया जा चुका तो अन्यत्र देने की क्या आवश्यकता ? कविताएँ, भी इतनी पूरी-पूरी उद्धृत कर दी हैं जिन्हें पढ़ने में मन स्वयं रमने लगता है पाठक का ध्यान लेखक के विवेचन से हट जाता है। इसी प्रकार उद्धरण भी आवश्यकता से अधिक दे दिए हैं और जिस सूत्र को पकड़ा है उसका उल्लेख नहीं है। 'द्वापर' की आत्म प्रधान शैली को अंग्रेजी कवि ब्राउनिंग की तरह आत्म कथन (monologues) मान लिया है। पुस्तक साधारण जनता के लिए परिचयात्मक अवश्य है पर साहित्य के विद्यार्थी को गुप्तजी की प्रवृत्तियों को समझने में विशेष सहायता शायद ही मिले। हाँ, रचनाओं की अपेक्षा रचनाओं की पृष्ठभूमि से वह अच्छी तरह परिचित हो जायगा।

'गुप्तजी की कृतियाँ' विद्यार्थियों के लिए उपयुक्त है। लेखक ने आरम्भ में ही स्पष्ट कर दिया है—“विद्यार्थी समाज के लाभ और हित की दृष्टि में रख कर ही उसे लिखा गया है। ‘आरम्भ में संक्षिप्त कवि परिचय, कृतियों का उल्लेख साहित्य में स्थान की चर्चा की है। विभिन्न पुस्तकों की कथावस्तु, पात्र, भाषा शैली, उनके महत्व आदि पर चलता हुआ विवेचन तो क्या, विचार किया गया है। गंभीर दृष्टि मिल भी नहीं सकती थी।

डा० नगेन्द्र की पुस्तक 'साकेत एक अध्ययन' कुछ सुलभी हुई है। उद्देश्य तो साकेत का महत्व ही स्पष्ट करना है लेकिन शैली की गंभीरता, लेखक का श्रम श्रुत्य है। साकेत की कथावस्तु, भावपक्ष, पात्रों का चरित्रविक विकास, सांस्कृतिक आधार, भाषा शैली की विशेषताओं पर क्रमिक विचार है जो शास्त्रीय पद्धति पर माना जा सकता है, आलोचना मुख्यतः गुप्तजी के 'साकेत' तक ही सीमित है पर उनके व्यक्तित्व, दृष्टि कोण पर भी प्रकाश डालती है। गार्हस्थ्यिक

जीवन का अच्छा विवेचन हुआ है। विशेषतः यह है कि लेखक ने एक एक तथ्य उठा कर उदाहरणों से समझाया है इसलिए क्रमशः पुस्तक गंभीर अध्यन में भी सहायक होती है कम से कम गुप्त जी भी सर्व-प्रमुख रचना का मूल्यांकन तो करती है। नगेन्द्र ने साकेत को मानव जीवन की “बड़ी अनूठी और पूर्ण व्याख्या माना है।”

यशोधरा पर दो पुस्तके अनु प्रागिक रूप से द्विवेदी युग की परंपरा, गुप्त जी साहित्यिक प्रगति पर विचार करती हुई मूल वस्तु का विवेचन करती हैं। दोनों ही विद्यार्थियों का हित ध्यान में रख कर लिखी गई है अतः परीक्षा के उपयुक्त ही अधिक हैं। ‘यशोधरा परिशीलन’ के अंत में तो शब्दार्थ व्याख्या के अतिरिक्त संभावित प्रश्न भी दे दिए गए हैं जिससे विद्यार्थी वर्ग की कठिनाई दूर हो जाय ! इनमें गंभीर साहित्यिक विवेचन हो भी नहीं सकता।

कन्हैयालाल सहल ने साकेत नवम सर्ग की टीका प्रस्तुत की है। अंत में गुप्त जी गांधी जी के पत्र भी दिए हैं जिनका व्यवहार ‘साकेत’ के संबंध में हुआ था।

इनके अतिरिक्त हिन्दी के प्रमुख आलोचकों ने यंत्र-तंत्र गुप्त जी की कविताओं, विशेष धाक्यों पर प्रकाश डाला है। आचार्य शुक्ल ने उन्हें प्रतिनिधि कवि भी माना है और सामंजस्य वादी भी जा जीवन के व्यक्त क्षेत्र में ही वास्तविक महत्व तथा सौंदर्य का दर्शन करने वाले हैं। श्याम सुन्दरदास को गुप्त जी के अनुवादों में भी मौलिक रचना का स्वाद मिलता है तो श्री गुलाबराय जी उनमें राष्ट्रीयता की पूरी छाप देखते हैं। गुप्त जी भक्त होकर भी उनकी दृष्टि में सुधारक है। और छोटी मोटी परिचयात्मक पुस्तकों में भी उनकी चर्चा हुई। विद्वानों ने अनेक कवि लिखे हैं जिनका एक संकल एक दिन हो जाना चाहिए। इधर उनके ‘साकेत’ की आलोचना अधिक होती है अन्य रचनाओं की कम। ‘सिद्धराज’ ‘यशोधरा’ ‘साकेत चूँकि शिक्षा के पाठ्य-क्रम में हैं — विद्यार्थी वर्ग को इन्हीं से विशेष संबंध रहता है जो कम कम से समय में पूर्ण ज्ञान प्राप्त करना चाहते हैं और उनके शुभेच्छु सज्जन गुप्त जी के तत्संबंधी विषयों पर कवि टीकाएं प्रस्तुत कर देते हैं !

मूलतः गुप्त जी का सब से बड़ा आलोचक महाश्वीर प्रसाद द्विवेदी को मानना चाहिए। काव्य संबंधी उनकी मान्यताएँ भाषा शैली संबंधी दृष्टि-कोण ही गुप्त जी की रचनाओं में पतलवित हुए हैं। कवि का निर्माण असल में आलोचक पर ही निर्भर होता है। यदि महाश्वीर प्रसाद न मिलता तो महात्मा तुलसीदास भी मानस-नाद नहीं कर पाते। गुप्त जी ने अपने काव्य गुरु का महत्व स्वीकार किया है अपने को उनका अनुचर घोषित करते हुए लिखा है

“पाई तुम्हीं से वस्तु जो कैसे तुम्हें अर्पण करूँ ?
पर क्या परीक्षारूप में पुस्तक न यह आगे धरूँ ?
अतएव मेरी धृष्टता यह ध्यान में मत दीजिए
कृपया इसे स्वीकार कर कृत कृत्य मुझको कीजिए !

+ + + +

करते तुलसी भी कैसे मानस-नाद
‘महाश्वीर’ का यदि उन्हें मिलता नहीं ‘प्रसाद’ !

अभी तक गुप्त जी पर कोई ठोस शास्त्रीय आलोचनात्मक पुस्तक मुझे ऐसी नहीं दिखाई देती जो विस्कुल वस्तु-विषय से संबंध रखे। खड़ी बोली में उनका स्थान निर्धारित करने के लिए अमीर खुसरो तक दौड़ लगाई जाती है ! अभी गुप्त जी की कृतियों का तुलनात्मक अध्ययन भी नहीं हुआ। तुलसी भी भक्ति भावना से साम्य अन्तर दिखाया जा सकता है, ‘हरिऔध’ से तुलना की जा सकती है उनकी साहित्यिक देन पर आलोचनात्मक कार्य हो सकता है ! ऐसे कितने ही अछूते क्षेत्र पड़े हुए हैं। समय आरह है जब हिन्दी के आलोचक गुप्त जी का महत्व समझते हुए उनकी रचनाओं का शास्त्रीय विवेचन करेंगे ?

